प्रकाशक

जनवाणी प्रकाशन

१६।१।१, हरीसन रोड,

कलकत्ता - ७

प्रथम संस्करण, ११००

संवत् २००७ विक्रमीय

मूल्य २)

अपने यशःशरीर से आकल्पान्त अजर-अमर

महर्षि पण्डित मदनमोहन मालवीय

की

सांस्कृतिक परम्परा

को

"जिस भाषा में पन्द्रह वर्ष तक
किसी दूसरी भाषा के अंक
चल कर घुल-मिल जाएँगे,
उनसे फिर उन्हें अलग करना
क्या सरल काम है ?"

लेखक का निवेदन

हमारी राष्ट्रभाषा की समस्या भी अत्यधिक उलझन में रही है। कभी इस सम्पूर्ण देश की एक राष्ट्रभाषा संस्कृत थी। फिर प्राकृत भाषाओं ने जब जोर मारा, तो प्रादेशिक राज्यों में भाषा-भेद बढ़ गया और सब अलग-अलग स्वतन्त्र हो गये। सब को एक सूत्र में बाँधने वाली एक राष्ट्रभाषा (संस्कृत) के न रहने का यह दुष्परिणाम था।

जब इस देश में विदेशी (मुसलमानी) शासन आया, तब उन (विदेशी) शासकों को यह अनुभव हुआ कि इस देश की जनता पर शासन करने के लिए यहाँ की भाषा का सहारा लेना अनिवार्य है। फलतः हिन्दी (हिन्दी की मेरठी बोली) को अपनाया और उस में फारसी-अरबी के शब्द भर कर तथा 'अपनी' (फारसी-) लिपि में उसे लिख कर 'उर्दू' नाम दिया, जिसे हम लोग हिन्दी का 'विदेशी संस्करण' कहते हैं। इस बात के लिए हम उन मुसलमान शासकों को बधाई देंगे कि उन्हों ने हिन्दी को इस (उर्दू) के रूप में समस्त राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा बनाने का प्रायः सफल प्रयत्न किया। राष्ट्र में इस छोर से उस छोर तक हमारे पूर्व पुरुषों द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमुख तीर्थ-स्थानों ने भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में मदद दी। पंजाब के गुरु नानक तथा गुरु गोविन्द सिंह की हिन्दी-वाणी ने हिन्दी को बल दिया, जिसे उन्हों ने 'गुरुमुखी' लिपि में लिखा। गुजरात के भक्त नरसी मेहता ने तथा महाराष्ट्र सन्त नामदेव जी की हिन्दी-वाणी ने भी बहुत काम

किया। महाकवि भूषण की कविता ने भी महाराष्ट्र में हिन्दी के प्रति अनुराग पैदा किया। अनेक बंगाली कवियों ने भी हिन्दी में रचना की। कई मद्रासी कवियों की भी हिन्दी-कविताएँ मिली हैं।

इस तरह, बहुत पहले हिन्दी राष्ट्रभाषा बन चुकी थी, जिसे अंग्रेजी राज्य आने के बाद पुनः शुद्ध रूप दे कर राष्ट्रभाषा के रूप में अधिकृत कराने का आन्दोलन शुरु हुआ। उसी का यह संक्षिप्त इतिहास है।

ईसवी सन् की उन्नीसवीं सदी में ही हिन्दी के सम्बन्ध में नव-जागरण हो चुका था। उसे जहाँ का तहाँ दबा देने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 'हिन्दुस्तानी' की स्थापना की। सरकारी पक्ष ने 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन किया। 'सितारे हिन्द' राजा शिवप्रसाद 'हिन्दुस्तानी'-समर्थकों में प्रधान थे। हिन्दी-नागरी के समर्थकों में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र प्रधान थे। जनता ने सरकारी पक्ष की उपेक्षा कर के हिन्दी का पक्ष लिया। फिर भी सरकारी पक्ष 'हिन्दुस्तानी' को लादने में जुटा रहा। अंग्रेजी का बोलबाला तो था ही ; उर्दू भी सरकारी महकमों में चलती थी। हिन्दी को कोई पूछनेवाला न था! कुछ राष्ट्रीय प्रवृत्ति के लोगों ने इस का पक्ष लिया, तो 'हिन्दुस्तानी' सामने रख दी गयी।

बीसवीं सदी के प्रथम दशक में ही हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' की बाधा झेलनी पड़ी। द्वितीय दशक के मध्य 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' का तृतीय अधिवेशन हुआ, जिस के सभापति थे पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'। उस में सभापति पद से जो भाषण दिया था, उस में कहा :—

'अब ऐसी दशा पर, सज्जनो, आप विचार करें कि बिना किसी सहारे के [illegible] (हिन्दी) [illegible] हो रही है; क्या आश्चर्य

है ; क्योंकि शिक्षा विभाग में भी इसकी जड़ें काटी गयी हैं ! कहा जाता है कि पाठ्यपुस्तकों की भाषा ऐसी रखी जाय, जो भिन्न-भिन्न दो वर्णावलियों (नागरी तथा फारसी लिपियों) में लिखी जा सके। इसी लिए उर्दू और हिन्दी दोनो का नाम छोड़ कर साहब लोगों ने इस देश की भाषा का नया नाम 'हिन्दुस्तानी' रखा है। इस का फल यह हुआ है कि हिन्दी पुस्तकों की भाषा उर्दू हो गयी ! कारण, फारसी लिपि में तो दूसरी (किसी संस्कृतनिष्ठ) भाषा के शब्द लिखे ही नहीं जा सकते। यदि कोई लिखे भी, तो उस का पढ़ना नितान्त असम्भव है।"

इस तरह हिन्दी का पक्ष ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, 'हिन्दुस्तानी' का राग भी साथ-साथ अलापा जाता रहा ; पर इस में जोर तब तक नहीं आया, जब तक राष्ट्रीय पक्ष के एक सब से बड़े नेता (महात्मा जी) ने उसे सहारा न दिया ! सन् १९३०-३४ के राष्ट्रीय संघर्ष के अनन्तर महात्मा जी ने हिन्दी की जगह 'हिन्दुस्तानी' और नागरी के साथ फारसी लिपि भी 'राष्ट्रीय' दृष्टिकोण से अपनायी। तब 'हिन्दुस्तानी' को सब से अधिक बल मिला। आगे, जब महात्मा जी ने 'सम्मेलन' छोड़ दिया, तब तो हिन्दी को बहुत ही सङ्कट का सामना करना पड़ा ! राजर्षि टंडन जी ने अनन्य भाव से हिन्दी-नागरी की उपासना की और राष्ट्रीय एकता के लिये हिन्दी-नागरी को जरूरी बताया। कुछ दिन तक टंडन जी को गालियाँ खानी पड़ीं ; पर बहुत शीघ्र वातावरण ठीक हो गया और जनता ने नैसर्गिक रूप से हिन्दी का पक्ष लिया। फलतः राजनैतिक पार्टियों को भी धीरे-धीरे झुकना पड़ा। विधान-परिषद् में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का पक्ष अजेय शक्ति के साथ रखा गया, जिसे (अपनी शक्ति कम रह जाने के कारण) 'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों

ने वार-बार आगे बढ़ा कर खटाई में डालने का प्रयत्न किया। ऐसा करने से हिन्दी का पक्ष और भी प्रबल हो गया—'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा।'

पिछले सितम्बर (१९४९) ११, १२, १३, १४ तारीखों में राष्ट्र-भाषा की समस्या पर भारतीय संविधान-परिषद् में बड़ा संघर्ष रहा। क्या निर्णय हुआ, कैसे हुआ, यह सब इस छोटी-सी पुस्तक में आप आगे देखेंगे ही।

कनखल
मार्गशीर्ष २००६ वि० }

किशोरीदास वाजपेयी

प्रकाशकीय वक्तव्य

राष्ट्रभाषा का व्याकरण, हिन्दी-निरुक्त, मानव-धर्म-मीमांसा और अच्छी हिन्दी का नमूना के बाद माननीय वाजपेयी जी को यह पाँचवाँ ग्रन्थरत्न हिन्दी-जगत् के सामने उपस्थित करते हुए हमें विशेष प्रसन्नता है, क्योंकि हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक हमें अपने उस उच्च लक्ष्य की ओर एक कदम और आगे ले जाती है, जिसका व्रत लेकर ही हमने हिन्दी-प्रकाशन के क्षेत्र में पदार्पण किया था। गत १४ सितम्बर १९४९ के अधिवेशन में भारतीय संविधान सभा द्वारा देवनागरी अक्षरों में लिखित हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हो जाने के बाद राष्ट्रभाषा के प्रकाशकों और मुद्रकों पर जो महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा है, उसको हम अनुभव कर रहे हैं और उसका निर्वाह करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

केवल आर्थिक मुनाफे को ही अपना लक्ष्य न बनाकर जनवाणी-प्रकाशन ने राष्ट्रभाषा के साहित्य-भाण्डार को उन उत्तमोत्तम ग्रन्थरत्नों से भरने को अपना ध्येय बनाया है, जिनकी कि उसे वर्तमान समय में सबसे अधिक आवश्यकता है। खड़ी बोर

को राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण आसन मिल जाने के बाद पहली आवश्यकता यह अनुभव की जाती थी कि उसका एक विशद व्याकरण बने, जिसके द्वारा कि देश भरमें राष्ट्रभाषा का पठन-पाठन सुचारु रूप से हो सके। राष्ट्रभाषा की इस महती आवश्यकता की पूर्ति की सदिच्छा से प्रेरित होकर ही हमने "राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण" प्रकाशित किया है। यदि वह अपने उद्देश्य में कुछ भी सफल हो सका, तो हम अपने श्रम को सार्थक हुआ समझेंगे।

पारिभाषिक कोष-निर्माण का प्रश्न भी कम महत्त्व का नहीं है। व्यावहारिक रूपमें इस क्षेत्र में आचार्य रघुवीर और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन कार्य कर रहे हैं, परन्तु राष्ट्रभाषा के भाषा-विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों का कोई व्यवस्थित विवेचन हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध न था। श्रीयुत वाजपेयी जी ने इस क्षेत्र में भी अध्यवसाय किया और अपनी मौलिक उद्भावनाओं से पूर्ण "हिन्दी-निरुक्त" प्रणयन करके हमें प्रकाशित करने को दिया।

३२ करोड़ जनसंख्या की राष्ट्रभाषा का साहित्य-भाण्डार भरना एक बृहत् कार्य है। धर्मशास्त्र, नागरिकशास्त्र, काव्य, साहित्य, राजनीति, समाज-शास्त्र प्रभृति विभिन्न विषयों के अगणित ग्रन्थों की

आवश्यकता अभी हिन्दी-साहित्य को है। हमें यह सूचित करते हुए प्रसन्नता होती है कि इस महान् यज्ञ में अपने उत्तरदायित्व का वहन करने में जनवाणी-प्रकाशन प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है और आचार्य वाजपेयी, राष्ट्रकवि दिनकर, शब्द-शिल्पी बेनीपुरी, सुप्रसिद्ध समालोचक श्री लक्ष्मीनारायण जी "सुधांशु" प्रभृति हिन्दी के गण्यमान्य साहित्यकारों के उत्तमोत्तम ग्रन्थरत्नों को प्रकाशित करने में सतत सचेष्ट है।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण पद मिल जाने के बाद सभी की दिलचस्पी स्वभावतः उस ऐतिहासिक आन्दोलन में बढ़ गयी है जो पिछले कई दशकों में हमारे देश में इसे राष्ट्रभाषा का पद दिलाने के लिए किया जा रहा था। इस इतिहास का महत्त्व और भी बढ़ जाता है इस तथ्य से कि अनेक गण्यमान्य विद्वानों के मतानुसार राष्ट्रभाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में अभी भी कुछ मतभेद बाकी है। हमें आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक उस मतभेद को बहुत कुछ अंशों में दूर करने में सहायक होगी।

अपने विषय की प्रथम ही पुस्तक होने के कारण इसमें त्रुटियां न होना ही आश्चर्य की बात हो सकती है, परन्तु हिन्दी-संसार अवश्य ही इस विषय में एकमत

होगा कि माननीय वाजपेयी जी इस विषय पर लिखने के अधिकारी हैं, क्योंकि वे इस आन्दोलन में स्वयं सक्रिय भाग लेते रहे हैं, जिसका प्रमाण पद-पद पर आप प्रस्तुत पुस्तक में पायेंगे ही। कृपालु पाठकों की संशोधन-विषयक सूचनाओं का लेखक और प्रकाशक सधन्यवाद स्वागत करेंगे।

वाजपेयी जी की विशिष्ट मनोरञ्जक शैली के विषय में अपनी ओर से कुछ न कहकर हम अपने कृपालु पाठकों से अनुरोध करते हैं कि उसका रस वे पुस्तक में ही लें।

हमें पूर्ण आशा एवं विश्वास है कि हिन्दी-जगत् अन्यान्य जनवाणी-प्रकाशनों के समान ही प्रस्तुत ग्रन्थ का भी समादर करके हमें प्रोत्साहित करेगा।

कलकत्ता,—
रामनवमी, २००७ वि०

हजारीलाल शर्मा
मैनेजिंग डायरेक्टर
जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०

अनुक्रमणिका

पूर्वार्द्ध

विषय | पृष्ठ

हिन्दी के बिना हमारा कार्य नहीं चल सकता

अंग्रेजी के विषय में लोगों की जो कुछ भी भावना हो, पर मैं यह दावे के साथ कह सकता हूं कि हिन्दी के बिना हमारा कार्य नहीं चल सकता। हिन्दी की पुस्तकें लिख कर और हिन्दी बोल कर भारत के अधिकांश भाग को निश्चय ही लाभ हो सकता है। यदि हम देश में बंगला और अंग्रेजी जाननेवालों की संख्या का पता चलाएँ, तो हमें साफ प्रकट हो जाएगा कि वह कितनी न्यून है। जो सज्जन हिन्दी भाषा द्वारा भारत में एकता पैदा करना चाहते हैं, वे निश्चय ही भारतबन्धु हैं। हम सब को संगठित हो कर इस ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। भले ही इस को पाने में अधिक समय लगे, परन्तु हमें सफलता अवश्य मिलेगी।

—ऋषि बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

राष्ट्रभाषा का इतिहास

भाषा की उत्पत्ति और विकास

भाषा की उत्पत्ति

मनुष्य ने अपनी विशेष बुद्धि से संसार में जो कुछ पैदा किया है, उस की समष्टि को ही संस्कृति कहते हैं और देश आदि के भेद से संस्कृति-भेद हुआ है। परन्तु मूलतः मनुष्य की संस्कृति एक ही है। उस संस्कृति का आधार भाषा है। संस्कृति की अन्तरात्मा का नाम 'दर्शन' है और उस के बहिरङ्ग को ही 'नागरिकता' कहते हैं। 'नागरिक' का पर्य्याय 'सभ्य' या 'शिष्ट' है। सभ्यता या नागरिकता का आधार मनुष्य का परस्पर सहयोग-जीवन है। 'जियो और जीने दो' की भावना सब का तत्त्व है। मनुष्य ने आज तक जीवन के विविध क्षेत्रों में जो भी उन्नति की है, उस का मूल आधार भाषा है। यदि भाषा न होती, तो यह सब कुछ न होता! 'इदमन्धतमःकृत्स्नं' रहता—सर्वत्र घोर अन्धकार रहता, यदि 'शब्दाह्वयं ज्योतिः' प्रकट न होती!

लोग पता लगाते हैं कि संसार के किस भू-भाग में सब से पहले सभ्यता प्रकट हुई ? जङ्गली जीवन से ऊपर उठ कर नागरिक या बस्तीदारी का जीवन सब से पहले कहां शुरू हुआ ? इस विचारणा में बड़े-बड़े विद्वान् लीन रहते हैं ! यह ऊहापोह ऐसा ही है, जैसे दुपहर के समय कुछ लोग यह सोचने का काम करें कि यह प्रकाश आ कहाँ से रहा है ! 'बुद्धिमान्' लोग ऐसी उलझन जानबूझ कर पैदा करते हैं, किसी विशेष उद्देश्य से। उद्देश्य आज सब से प्रधान है आर्थिक और राजनैतिक। चतुर लोग किसी बड़े भू-भाग पर जब अपना अधिकार बहुत दिन तक जमाये रखना चाहते हैं, तो खड्ग-विजय के पश्चात् भावना-विजय करते हैं। विजित देश की जनता की भावना का परिभव कर के उस पर अपनी श्रेष्ठता का सिक्का बैठा देना ही वैसे बुद्धिमानों का काम होता है। इसी उद्देश्य से इतिहास लिखा जाता है और उस इतिहास की पुष्टि फिर पुरातत्त्व की व्याख्या तथा भाषा-विज्ञान आदि के द्वारा अलक्षित रूप से की जाती है। यही कारण है कि सभ्यता के मूल उद्गम की खोज का झमेला खड़ा कर के मति-भ्रम पैदा किया जाता है। वैसे, कौन नहीं जानता कि सभ्यता का उद्गम इसी भारत में हुआ है ?

अच्छा, आप पूछेंगे कि इस में प्रमाण क्या है ? कैसे जाना कि सभ्यता का उद्गम सब से पहले इस देश में हुआ ? उत्तर में निवेदन है कि 'वेदाः प्रमाणम्' ! हमारे वेद ही इस में प्रमाण हैं कि सभ्यता का उद्गम इसी देश में हुआ। हमारे ऋषि ही संसार

के 'प्रथम नागरिक' थे। जो लोग वेद को वैसा प्रमाण नहीं मानते, उन्हें भी इस विषय में इन का प्रामाण्य स्वीकार करना ही पड़े गा।

हम लोग वेदों को क्या मानते हैं, कैसा मानते हैं और इन की रचना के बारे में हमारा क्या मत है ; इन सब बातों को छोड़ कर हम उस बात पर चलें गे, जिसे संसार भर के लोग मानते हैं। जो लोग वेदों की रचना का काल बहुत इधर बताते हैं, वे भी स्वीकार करते हैं कि संसार का प्राचीनतम साहित्य 'ऋग्वेद' है। वे यह भी मानते हैं कि ऋग्वेद में उच्च सभ्यता की झलक है। वैसी उच्च सभ्यता का विकास होने में कितने दिन लगे हों गे ? और ऋग्वेद-जैसा महत्त्वपूर्ण साहित्य सभ्यता के उपः-काल में ही न बन गया हो गा। पहले किसी भाषा में अति साधारण साहित्य बनता है, जो बहुत जल्दी, घास-फूस की तरह नष्ट हो जाता है। परिपक्वता आते-आते आती है। जब भाषा अत्यन्त प्रौढ हो जाती है और साहित्य-निर्माण की कला अपने प्रौढ रूप में आ जाती है, तभी वैसा उत्तम साहित्य बन सकता है, जो युग-युगान्त तक वैसा ही देदीप्यमान रहे। कितने राज्य-विप्लव हुए, कितने महाभूकम्प आये, पर वेद नष्ट नहीं हुए। ऐसा उत्तम साहित्य बनने योग्य स्थिति कितने दिन में संसार को प्राप्त हुई हो गी ? इस का मतलब यह हुआ कि वेदों की रचना का जो समय दूसरे देश वाले बताते हैं, उस से भी हजारों वर्ष पहले इस देश में सभ्यता का उदय उन्हें मानना हो गा। उस समय

की कल्पना कीजिए। जब शेष सम्पूर्ण संसार का 'मानव'-नामधारी प्राणी जङ्गली जीवन बिता रहा था, तब भारत में जीवन का संस्कार या परिष्कार हो रहा था, संस्कृति का निर्माण हो रहा था, उत्तम से उत्तम (ऋग्वेद-जैसा) साहित्य बन रहा था। इस से भी बहुत पहले हमें जाना हो गा, भाषा की उत्पत्ति की खोज करने के लिए।

•

हम ने ऊपर कहा है कि मानव-जीवन, नागरिकता या सभ्यता का मूल भाषा है। सब से पहले मनुष्य ने भाषा का निर्माण किया। अपने भाव स्पष्ट प्रकट करने के लिए कुछ शब्दों में अर्थ- संकेत किये। 'इस शब्द से यह अर्थ समझना' इस प्रकार के शब्दार्थ- संकेत ही भाषा के आधार हैं। प्रारम्भ में मनुष्य की भाषा कितने शब्दों की हो गी, समझ सकते हैं। जैसे-जैसे जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रगति होती गयी, भाषा के शब्द भी बढ़ते गये। तालाब में जैसे-जैसे जल बढ़ता जाता है, कमल-नाल में भी वृद्धि होती जाती है। भाषा से संस्कृति और संस्कृति से भाषा की अभिवृद्धि होती गयी। भाषा स्वयं संस्कृति की प्रतीक है, मूल है और फिर उस के द्वारा इस का विकास-प्रसार भी होता है। जैसे-जैसे नागरिक-जीवन उन्नत होता जाता है, भाषा के शब्द बढ़ते जाते हैं, भाव-प्रकाशन के ढँग परिमार्जित होते जाते हैं। आगे चलते-चलते भाषा इस योग्य बन जाती है कि उस में साहित्य बनने लगता है। लोग गीत बना-बना कर गाने लगते हैं। आगे चल कर इन गीतों में

और कारीगरी की जाती है। फिर इन गीतों पर चर्चा होती है, आलोचना होती है--"कौन-सा गीत अच्छा है, कौन रद्दी है?" अच्छे और बुरे होने के कारण ढूँढ़े जाते हैं। इस से, आगे अच्छे-से-अच्छे गीत बनने लगते हैं। चलते-चलते किसी समय ऋग्वेद-जैसा उत्कृष्टतम साहित्य भी बनता है, इतना स्थायी, इतना ठोस, इतना सार-रूप कि उसे काल नष्ट नहीं कर सकता!

सो, जब कि संसार भर के लोग मानते हैं कि ऋग्वेद संसार की सब से पुरानी पुस्तक है, तो उन्हें मानना ही हो गा कि सभ्यता का उदय सब से पहले इसी देश में हुआ, जहाँ वेदों की रचना हुई। सम्भवतः भाषा की उत्पत्ति संसार के इसी सौभाग्य-शाली भू-खण्ड में हुई। इस लिए भाषा की उत्पत्ति पहले कहाँ हुई, इस बात की अधिक विचारणा व्यर्थ है।

भाषा का विकास

संसार के प्रत्येक पदार्थ का विकास होता है। प्रत्येक प्राकृतिक पदार्थ अपना रूप-रंग बदलता रहता है। इसी रूप-परिवर्तन को भाषा-विज्ञान में 'विकास' कहते हैं। कली का विकास पुष्प है। कली ही पुष्प-रूप में आ गयी है। रूप में इतना परिवर्तन हो गया कि चीज ही दूसरी बन गयी! भाषा के शब्दों में और शैली आदि में भी इस तरह के परिवर्तन होते रहते हैं। इसी के विचार का नाम 'भाषा-विज्ञान' है। हम भाषा-विज्ञान नहीं, अपनी राष्ट्रभाषा की चर्चा कर रहे हैं। हम

यहाँ अपनी हिन्दी की चर्चा कर रहे हैं। देखेंगे कि हमारी यह राष्ट्रभाषा कहाँ से, कैसे उत्पन्न हुई। किस भाषा का विकास यह हिन्दी भाषा है ?

हमारे इस देश में जो मूल भाषा उद्भूत हुई, वह समृद्ध होते-होते इस योग्य हो गयी कि ऋग्वेद-जैसा उत्तम साहित्य उस में बना। साधारण बोल-चाल की भाषा में और साहित्य की भाषा में किंचित् अन्तर आ जाता है। एक अपने साधारण रूप में चलती है और दूसरी (साहित्यिक भाषा) में कुछ बनाव-चुनाव होता है। इस अन्तर को प्रकट करने के लिए आगे चल कर 'प्राकृत' और 'संस्कृत' शब्दों का प्रयोग हुआ। साधारण बोल-चाल की भाषा 'प्राकृत' कहलाने लगी और पढ़े-लिखे लोगों की वह भाषा 'संस्कृत' कहलायी, जिस में साहित्य बन रहा था।

प्राकृत भाषा में परिवर्तन होता गया, देश-भेद से भी और काल-भेद से भी। हमारे पुरखे दूर-दूर तक फैलने लगे। जल-वायुके अनुसार उच्चारण-यन्त्रों पर वैसा असर पड़ा कि एक ही शब्द प्रदेश-भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में बोला जाने लगा। इस प्रकार एक ही प्राकृत या जन-भाषा के अनेक रूप हो गये। फिर काल-क्रम से भी इन विभिन्न प्राकृतों के रूप बदलते गये। इन प्राकृत भाषाओं में भी साहित्य बना, जो संस्कृत-साहित्य से प्रभावित रहा। बहुत आगे चल कर इन प्राकृत भाषाओं का वह रूप सामने आया, जिसे 'अपभ्रंश' नाम मिला है। देश भर में

कितनी ही अपभ्रंश-भाषाएँ आज से दो सहस्र वर्ष पहले चल रही थीं। वे ही (अपभ्रंश) भाषाएँ वर्तमान हिन्दी, गुजराती, बँगला, मराठी, पञ्जाबी, आदि भाषाओं के रूप में दिखायी दे रही हैं। अब यदि हम कहें कि हमारी हिन्दी भाषा वही भाषा है, जो हमारे ऋषि-मुनि बोलते थे और जिस में वेद-रचना हुई थी, तो क्या गलत है? पञ्जाबी, और बंगाली, आदि भी अपनी-अपनी भाषा के सम्बन्ध में ऐसा ही कह सकते हैं। ठीक भी है। परन्तु रूप में कितना अन्तर है! कहाँ वेद की अथवा उस की आधारभूत भाषा का रूप और कहाँ हिन्दी का यह वर्तमान रूप! किसी बुढ़िया के बचपन का चित्र यदि उसे दिखाया जाय, तो वह स्वयं भी शायद अपने उस पुराने रूप को न पहचान सके! काल ने कुछ का कुछ कर दिया है! बुढ़िया वह बच्ची कैसे हो सकती है? दोनों में कितना अन्तर है! फिर भी वह बुढ़िया उसी रूप का ही परिवर्तन है न? बुढ़िया का जो यह रूप-परिवर्तन हुआ, इसे हम 'परिणाम' कहते हैं। उम्र पक गयी! यह परिणाम सुखप्रद या मोहक नहीं कहा जा सकता। परन्तु भाषा के रूप-परिवर्तन में वृद्धता नहीं, तारुण्य छलकता है, मोहकता बढ़ जाती है। इसी लिए इसे 'विकास' कहते हैं। इस विकास में रंग और रूप सौरभ से भर जाता है। 'पाती न पाई अजों घनश्याम की' यहाँ 'पाती' में जो मिठास है, वह 'पत्रिका' में है क्या? 'मिष्ठता' और 'मिठास' में क्या अन्तर नहीं है? 'कृतः' और 'कियो' का भेद कान स्वयं बतला देते हैं। 'पृष्ठ' और 'पीठ' बोल कर देखिए, जीभ किधर टपकती है। यह सब परिवर्तन

भाषामें स्वतः होता है, प्रवाह-रूप से यदि कोई व्यक्ति कहीं कुछ स्वेच्छया परिवर्तन करे, तो उस की न चले गी। 'स्मरण' का 'सुमिरन' स्वतः हुआ है; जनता की धारा में ढुलकता हुआ 'स्मरण' का पत्थर घिस-घिसा कर 'सुमिरन' बन गया है। अब, इस के वजन पर कोई 'कवि' 'स्मर' को 'सुमिर' करता है, तो मूर्ख बने गा। शब्दों को मन-माने ढंग पर तोड़-मरोड़कर 'स्मर' का समर बना देना ठीक नहीं है।

हाँ, तो हमारी हिन्दी उसी मूल मानव भाषा का विकसित रूप है, जिसमें ऋग्वेद की रचना हुई थी। इस (हिन्दी भाषा) का जन्म हुए दो सहस्र वर्ष निश्चय ही बीत गये। अब यह भाषा अपने तारुण्य का अनुभव कर रही है, और इस की समृद्धि दिन पर दिन बढ़ रही है।

सोलहवीं शताब्दी से १६०१ तक

हमारी भाषा का 'हिन्दी' नाम

हमारी भाषा को यह 'हिन्दी' नाम विदेशी लोगों ने दिया। जब दूसरे देशों से मुसलमान यहाँ आये, तो पहले सिन्ध-प्रदेश पर उन के चरण पड़े। वे 'स' का उच्चारण 'ह' के रूप में करते थे। हमारा 'सप्त' फारसी में 'हप्त' बोला जाता है, और 'सप्ताह' हो जाता है 'हप्ता'। हमारा 'सम' वहाँ 'हम' हो जाता है—'हम-वजन' 'हम-राह' (सम-वजन, सम-राह)। उन लोगों ने 'सिन्ध' को 'हिन्द' कहना शुरू किया। सिन्ध इस देश का एक अङ्ग था ही। मुसलमानों ने फिर सम्पूर्ण देश का नाम 'हिन्द' रख लिया। जब दिल्ली राजधानी पर मुसलमान बादशाहों का तख्त जगमगाने लगा, देश भर में हुकूमत कायम हो गयी, तो एक देशी भाषा की जरूरत पैदा हुई, जो शासन में मदद दे सके। देश का शासन लोक-भाषा की सहायता के बिना चल नहीं सकता। नीवँ में लोक-भाषा रहे गी ही।

मुसलमान बादशाहों ने दिल्ली के इधर-उधर को, मेरठ-परिसर की, लोकभाषा को इस काम के लिए चुना, जिसे वे स्वयं समझते थे और लाखों राजकर्मचारी (मुसलमान भी) समझते

लगे थे, भले ही अभ्यासवश या अज्ञान के कारण उस में वे अरबी-फारसी के शब्द भी बोलते थे। वे इस अरबी-फारसी से मिली हिन्दी को अपनी ही (फारसी) लिपि में लिखते भी थे; जैसे बाद में अंग्रेज लोग 'हिन्दुस्तानी' भाषा को रोमन-लिपि में लिखने लगे थे। विजेता लोग किसी विजित देश की जन-भाषा को एकदम उड़ा देने में समर्थ नहीं होते; पर लिपि तो अपनी लाद ही देते हैं! किसी समय रोमन-साम्राज्य सम्पूर्ण योरप पर चमक रहा था। तब रोमन-लिपि (A. B. आदि) योरप के सभी देशों में फैल गयी। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि सभी योरपीय भाषाएँ रोमन-लिपि में लिखी जाने लगीं और धीरे-धीरे इन देशों की अपनी लिपियाँ एकदम लुप्त हो गयीं! यही बात इस भारत में भी होती, फारसी या रोमन लिपि ही आज हमारी होती, यदि कुछ 'मर-मिट' लोग सब कुछ सह कर नागरी लिपि का न बचा लेते! खैर, मुसलमान शासकों ने मेरठ के आस-पास की उस जन-भाषा को राज-काज में मदद देने के लिए पसन्द किया, जिसे लोग 'खड़ी बोली' के नाम से पहचानते हैं, जो हिन्दी की एक 'बोली' है और अब जो 'राष्ट्रभाषा' के पद पर आसीन होने जा रही है, जिस में ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं। परन्तु विदेशी (फारसी) लिपि के परिधान से तथा विदेशी (अरबी-फारसी) शब्दों की रेल-पेल से उसे कुछ भिन्न रूप मिल गया! हिन्दी के इस कृत्रिम रूप का नाम आगे चल कर 'उर्दू' पड़ गया! देश का नाम 'हिन्दुस्तान' और भाषा का नाम 'उर्दू' रखा गया; जैसे बाद में अंग्रेजों ने देश का नाम 'इंडिया' और देश-

भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' रखा। एक ने भाषा का नाम बदला, दूसरे ने देश का।

जो भी हो, 'उर्दू' नाम से हिन्दी का यह कृत्रिम रूप, विदेशी भावनाओं से भर कर चला। बड़े ओहदों पर फारसीदाँ प्रतिष्ठित किये जाते थे और छोटे दफ्तरों का काम उर्दू में होता था। राज-सत्ता का यह सहारा पाकर उर्दू देश भर में पहुंच गयी। फारसी की 'छत्र-धारिणी' उर्दू थी। इस की भी कम प्रतिष्ठा न थी; देश के लोग बड़े चाव से उर्दू पढ़ने-सीखने लगे। अ, आ, के बदले 'अलिफ-बे' की गूँज चारो ओर सुनायी देने लगी। पाठकों को यह जान कर आश्चर्य हो गा कि अंग्रेजी राज्य आ जाने पर भी स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा (डा० अमरनाथ झा के पूज्य पिता जी) का विद्यारम्भ भी 'अलिफ-बे' से ही एक मौलवी ने कराया था। लोगों में 'उर्दूदाँ' मुंशियों की कद्र उसी तरह बढ़ी, जैसे अंग्रेजी राज्य में टूटी-फूटी अंग्रेजी जान कर 'बाबू' बन जानेवालों की! अपनी भाषा, अपनी लिपि तथा अपनी संस्कृति के लिए यह महासंकट का समय था! लोगों का आकर्षण उधर इतना बढ़ा कि अपने लड़कों के नाम 'मुंशी राम' रखने लगे। यही भावना 'बाबू राम' में भी है। राज-सत्ता चाहे जो कर दे।

परन्तु उस समय भी 'पण्डित' लोगों ने अपनी भाषा और लिपि की रक्षा की। देश-भर में एक ऐसा 'पण्डित-दल' था,

जो संस्कृत भाषा के पढ़ने-पढ़ाने में जी-जान से लगा था। बड़े-बड़े प्रभावशाली उधर काम कर रहे थे! उन के दृढ़ अध्यवसाय से ही नागरी लिपि और संस्कृत भाषा जीवित रही। सूखे चने चबा-चबा कर इन लोगों ने गुजारा किया; पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति संस्कृत भाषा और नागरी लिपि के संरक्षण में लगायी। ये लोग यदि उर्दू-फारसी पढ़ते, तो बड़े-बड़े पदों पर प्रतिष्ठित होते; मौज करते। परन्तु ऐसा न कर के इन्हों ने दूसरा मार्ग ग्रहण किया। साधारण जनता के लिए ये लोग हिन्दी में जो कुछ लिख कर देते थे, वह सब नागरी लिपि में होता था। इस तरह संस्कृत के साथ-साथ जन-भाषा की लिपि भी नागरी बनी रही, जिस जन-भाषा का नाम विदेशी शासकों ने पहले 'हिन्दी' रखा और बाद में, जिसे कुछ भिन्न रूप तथा विदेशी लिपि देकर 'उर्दू' नाम से प्रचलित किया। 'हिन्दी' नाम भी विदेशियों का दिया हुआ था, इस लिए बहुत दिन तक पण्डितों ने यह नाम ग्रहण न किया और अपनी जन-भाषा को केवल 'भाषा' नाम दिया। संस्कृत भाषा के हिन्दी-अनुवाद 'भाषा-टीका' नाम से आज भी आप पुस्तकालयों में देख सकते हैं। इसी 'भाषा' को लोग 'नागरी' भी कहने लगे थे; यद्यपि 'नागरी' लिपि का नाम है।

देश में 'मुंशी जी' की कद्र थी और 'पण्डित जी' की उपेक्षा! उस समय 'मुंशी' लोगों में और 'पण्डित' लोगों में जो खींच-तान चल रही थी, उस की बानगी आज भी 'सुभाषित-रत्नभाण्डारागार' आदि ग्रन्थों में आप को मिल सकती है। इन पण्डितों का ही

प्रभाव है कि आज भी लोग 'छह' को 'छः' लिखते हैं। संस्कृत में विसर्गों का उच्चारण 'ह' जैसा होता है। पण्डित लोग अभ्यास-वश 'छह' को 'छः' लिखने लगे, विसर्ग दे कर; यद्यपि हिन्दी में यह ठीक नहीं है। प्रकृत शब्द 'छह' है, जिस का समष्टि-रूप 'छहो' होता है। परन्तु इधर ध्यान न दे कर लोग अब तक 'छः' ऐसा विसर्गान्त रूप ही लिखते हैं। संस्कृत को तो लोग 'ब्राह्मणों की भाषा' कहते ही थे; अब लोक-भाषा ('हिन्दी' 'भाषा' या 'नागरी') के सम्बन्ध में भी यही धारणा बन चली। यह 'भिखमंगों की भाषा' कह कर भी तिरस्कृत की गयी! परन्तु सब कुछ सह कर भी हिन्दी-नागरी ने वे दिन काटे! जीवित बनी रही, मरी नहीं!

अंग्रेजी राज्य में भाषा

चलते-चलते वह समय आया, जब इस देश में अंग्रेजी राज्य जमा। अंग्रेजों ने फारसी की जगह अंग्रेजी भाषा प्रतिष्ठित की! फारसी फीकी पड़ गयी। साधारण काम-काज, अंग्रेजी राज्य में भी, 'उर्दू' के द्वारा होता रहा। यद्यपि अंग्रेज जानते थे कि इस देश की लोक-भाषा का प्राकृत रूप क्या है और इस राष्ट्र की अपनी लिपि कौन-सी है; पर इधर उन्हों ने ध्यान न दिया। हिन्दी को प्रमुखता न दी गयी; नागरी को सम्मान न मिला! इस के दो कारण थे। एक तो यह कि उर्दू पढ़े-लिखे लोग लाखों-करोड़ों ऐसे थे, जो राज-काज का सञ्चालन कर रहे थे, मुंशीगीरी कर के देश भर में दफ्तर सँभाल रहे थे! उन को

एकदम नागरी-हिन्दी सिखाने की झंझट में कौन पड़े। दूसरे, अंग्रेजों ने यह भी समझा कि नागरी-हिन्दी से इस देश में राष्ट्रीय भावना वेग से जाग उठे गी, यदि उसे राज-काज में जगह मिली। इसी लिए उन्हों ने हमारी भाषा के दो रूपों को ठीक समझ कर भी, उर्दू को ही प्रश्रय दिया, हिन्दी-नागरी की उपेक्षा कर दी। परन्तु शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ जब भाषा-विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ हुआ, तो चीज कहाँ-तक छिपती ? बड़े-बड़े विचारक अंग्रेज हिन्दी की ओर मुड़े, इस की परम्परा पर विचार हुआ। कलकत्ते के 'फोर्ट विलियम कालेज' में कुछ हिन्दी का काम हुआ। हिन्दी में कुछ पुस्तकें लिखायी गयीं और प्रकाशित हुईं। हिन्दी की ओर अब जनता की प्रवृत्ति पुनः हुई।

भारतेन्दु-युग

हिन्दी की चर्चा चलते-चलते इस के कुछ अन्य उपासक पैदा हो गये। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी को बड़ा सहारा दिया। मातृभाषा के प्रति ममता उस समय जिन लोगों ने जागृत की, उनके मुखिया भारतेन्दु ही थे। हिन्दी के इस नव जागरण को बाधा पहुंचाने के लिए अंग्रेज-सरकार ने बीच में 'हिन्दुस्तानी' का बखेड़ा खड़ा कर दिया! राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' एक उच्च शिक्षाधिकारी थे। सरकार ने इन्हीं के द्वारा यह 'कामन लैंगवेज' 'हिन्दुस्तानी' आगे बढ़ायी। भारतेन्दु-मण्डल जहाँ संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का पक्षपाती था और नागरी को एकमात्र अपनी लिपि समझता था,

वहाँ यह सरकारी दल फारसी-अरबी तथा संस्कृत के शब्दों की समानता रख कर दोनो लिपियों में लिखी उस 'मिली-जुली' 'हिन्दुस्तानी' भाषा का समर्थन कर रहा था, जिस के लिए कहा गया है—

> न खास हिन्दी, न खास उर्दू,
> ज़बान गोया मिली-जुली हो।

इस मिली-जुली 'ज़बान' का नाम 'हिन्दुस्तानी' रखा गया, जिसका स्वरूप-प्रतिपादन ऊपर है। आप देखें—'खास', 'खास', 'उर्दू' 'ज़बान', 'गोया'—ये सब शब्द विदेशी हैं! केवल 'न' 'मिली-जुली' और 'हो' ये तीन शब्द अपने हैं सो 'न' और 'हो' तो बदल सकते ही नहीं; परवशता की बात है। किसी भी भाषा की क्रियाएँ कभी नहीं बदलतीं; किसी दूसरी भाषा की क्रियाएँ उन की जगह नहीं रखी जा सकतीं। अव्यय भी (न, नहीं, मत, ऊपर नीचे आदि) वही रहते हैं। इसी लिए भाषा के स्वरूप-निर्देश में 'न' तथा 'हो' आप देख रहे हैं। हाँ 'मिली-जुली' यह मधुर शब्द दे कर अवश्य कृपा की गयी है। अन्यथा उस स्वरूप-निर्देश में सब विदेशी शब्द हैं। इसी का प्रचार 'सितारे हिन्द' चाहते थे। बाबू हरिश्चन्द्र ने तथा उन के सहयोगियों ने इस धारा का प्रतिरोध किया और विशुद्ध हिन्दी का समर्थन किया। सरकार ने 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक को 'सितारे हिन्द' खिताब दे कर सम्मानित किया, तो जनता ने हिन्दी के समर्थक को 'भारतेन्दु'-जैसी उच्च पदवी दे कर अपनी

श्रद्धा प्रकट की। जन-भावना ने सरकारी प्रचार को विफल कर दिया। लोग धोखे में न पड़े! उर्दू राज-दरबार में आदर पर ही रही; हिन्दी के राष्ट्रीय वेग को 'हिन्दुस्तानी' के चक्कर में डाल देने का कुचक्र भी रचा गया, जो सफल न हो सका! जनता ने हिन्दी की भावना को ग्रहण किया; यद्यपि वह भावना उस समय अंकुर-रूप में ही थी।

कांग्रेस का जन्म

सन् १८८५ में कांग्रेस का जन्म हो चुका था और राष्ट्रीयता का उन्मेष हो रहा था। ऐसी दशा में यह असम्भव था कि राष्ट्रभाषा की ओर लोगों का ध्यान न जाता। उन्नीसवीं सदी के समाप्त होते-होते राष्ट्रभाषा की नीवँ लगने लगी। उस समय कांग्रेस के एक महाधिवेशन में लाला लाजपत राय ने अपना एक महत्त्वपूर्ण भाषण राष्ट्रभाषा हिन्दी में दिया, जिस का उल्लेख 'लालाजी का उर्दू-भाषण' कह कर किया गया है। लाला जी पंजाबी थे। उन के भाषण में भाषा का जो रूप प्रकट हुआ, उसे 'उर्दू' कहना स्वाभाविक ही है। 'उर्दू' नाम ही प्रचलित था। हिन्दी तो तब भी उपेक्षित थी। पर कुछ भी हो, कांग्रेस के मंच से 'करते हैं', 'आते हैं', 'जाते हैं' ये राष्ट्रभाषा की क्रियाएँ तो लोगों के कानों में पड़ीं! कांग्रेस के इतिहास में वह प्रथम घटना थी कि किसी ने अपने देश की भाषा में भाषण दिया। परन्तु कांग्रेसी हलकों में इसे राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्व न दिया गया; बल्कि लोग यह कहने लगे कि "लालाजी अंग्रेजी में अच्छी तरह

बोल नहीं सकते हैं ; इसी लिए उर्दू में बोले हैं।" इस तरह लाला जी की उस राष्ट्रीय प्रवृत्ति को उन की एक कमजोरी समझा गया ! उस समय लाला जी पंजाब हाईकोर्ट में वकालत करते थे। वहां अंग्रेजी में बड़ी-बड़ी बहसें करते थे। उन्हों ने समझा कि कांग्रेस अपनी राष्ट्रीय सभा है ; इस लिए यहां अपनी राष्ट्र-भाषा में ही बोलना चाहिए। उन की इस उदात्त भावना को न समझ कर वैसे उथले लोगों ने वैसा कहा और कई लोगों ने कांग्रेस के इतिहास में भी वैसा ही लिख दिया है। मैं समझता हूँ, लाला लाजपत राय ने उन्नीसवीं सदी की समाप्ति पर एक सन्देश दिया कि रात बीत रही है, उषः काल आ रहा है। राष्ट्रभाषा के इतिहास में लालाजी के इस 'उर्दू-भाषण' को मैं अत्यधिक महत्त्व देता हूँ !

कांग्रेस के द्वारा जैसे-जैसे राष्ट्रीय चेतना बढ़ती जा रही थी, वैसे ही वैसे, अपने आप राष्ट्रभाषा हिन्दी की ओर आकर्षण पैदा होता जा रहा था ; यद्यपि उस समय के कांग्रेस-नेताओं को यह अच्छा न लगता था। वे एकमात्र अंग्रेजी भाषा के पक्षपाती थे।

[१९०१—१९१०]

राष्ट्रीयता का उन्मेष

सन् १९०१ से १९१० तक का यह बीसवीं सदी का प्रथम दशक भारतीय क्षितिज पर उषः काल के रूप में आया। कांग्रेस को श्री ह्यूम ने इस लिए जन्म दिया था कि देश वैधानिक प्रगति में उलझ कर सशस्त्र क्रान्ति से हट जाय और अंग्रेजी राज्य मजे से चिरकाल तक इस देश पर डटा रहे। परन्तु इस संगठन का निर्माण राष्ट्रीयता के घंटारव के साथ हुआ था; इस लिए लोकमान्य पं० बाल गंगाधर तिलक और लाला लाजपत राय जैसे नेता भी इस में आ गये थे और इस संगठन को एक लड़ाकू संस्था के रूप में बदल देना चाहते थे, जो वैधानिक प्रगति के लिए नहीं, देश को स्वतन्त्र करने के लिए अंग्रेजी राज्य से लोहा ले। इस संघर्ष के फल-स्वरूप सच्ची राष्ट्रीयता का जागरण हो रहा था और कांग्रेस के बाहर राष्ट्रभाषा की चर्चा जोरों से चल रही थी। अनेक बंगाली, गुजराती, पंजाबी और महाराष्ट्र नेता यह उद्योग कर रहे थे कि अपने राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए, जो अन्तः प्रान्तीय व्यवहार का माध्यम बने और आगे चल कर, जब देश स्वतंन्त्र हो, यही अपनी राष्ट्रभाषा अंग्रेजी भाषा का स्थान ग्रहण कर के समस्त देश की, केन्द्रीय सरकार की, राजभाषा बने। यह भी निश्चय कर लिया गया था कि इस

देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि नागरी हो। इस विचार को कार्य-रूप में भी जहाँ-तहाँ परिणत किया जा रहा था। उस समय विदेश में एक सशस्त्र क्रान्तिकारी दल वीर सावरकर के अधिनायकत्व में संगठित हो रहा था। इस दल में अधिकांशतः वे छात्र ही थे, जो भारत से वहाँ वैरिस्टरी आदि पास करने गये थे। इन में पंजावी, मराठा, गुजराती, वंगाली आदि ऐसे लोग थे, जो एक-दूसरे की भाषा न जानते थे। इस लिए, सव अंग्रेजी में ही आपसी व्यवहार-वातचीत करते थे; परन्तु राष्ट्रीयता का उद्रेक उन्हें इस पर लज्जित करने लगा! "क्यों हम एक विदेशी भाषा में आपसी वात-चीत करें? क्या हमारी अपनी कोई राष्ट्रभाषा नहीं है?" सव ने निश्चय किया कि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है और हम लोग आपस में उसी का व्यवहार करेंगे। उस दल ने अपने व्यवहार के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी स्वीकृत की; यह एक छोटी चीज आज मालूम देती है; परन्तु उस समय का ख्याल कीजिए; जव निरक्षर देश में तो कोई वात ही न थी और पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी में ही शरावोर थे! कांग्रेस का सव काम अंग्रेजी में ही होता था! तव राष्ट्र-भाषा के लिए यह एक सुनहरी किरण थी कि छात्रों में इस के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ!

काशी-नागरी-प्रचारणी-सभा

इस समय हिन्दी का काम सुसंगठित रूप से करने वाली केवल एक संस्था देश में थी—'काशी-नागरी-प्रचारणी-सभा'।

[१६०१–१६१०]

राष्ट्रीयता का उन्मेष

सन् १६०१ से १६१० तक का यह बीसवीं सदी का प्रथम दशक भारतीय क्षितिज पर उषः काल के रूप में आया। कांग्रेस को श्री ह्यूम ने इस लिए जन्म दिया था कि देश वैधानिक प्रगति में उलझ कर सशस्त्र क्रान्ति से हट जाय और अंग्रेजी राज्य मजे से चिरकाल तक इस देश पर डटा रहे। परन्तु इस संगठन का निर्माण राष्ट्रीयता के घंटारव के साथ हुआ था ; इस लिए लोकमान्य पं० बाल गंगाधर तिलक और लाला लाजपत राय जैसे नेता भी इस में आ गये थे और इस संगठन को एक लड़ाकू संस्था के रूप में बदल देना चाहते थे, जो वैधानिक प्रगति के लिए नहीं, देश को स्वतन्त्र करने के लिए अंग्रेजी राज्य से लोहा ले। इस संघर्ष के फल-स्वरूप सच्ची राष्ट्रीयता का जागरण हो रहा था और कांग्रेस के बाहर राष्ट्रभाषा की चर्चा जोरों से चल रही थी। अनेक बंगाली, गुजराती, पंजाबी और महाराष्ट्र नेता यह उद्योग कर रहे थे कि अपने राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए, जो अन्तः प्रान्तीय व्यवहार का माध्यम बने और आगे चल कर, जब देश स्वतंत्र हो, यही अपनी राष्ट्रभाषा अंग्रेजी भाषा का स्थान ग्रहण कर के समस्त देश की, केन्द्रीय सरकार की, [illegible]षा बने। यह भी निश्चय कर लिया गया था कि इस

देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि नागरी हो। इस विचार को कार्य-रूप में भी जहाँ-तहाँ परिणत किया जा रहा था। उस समय विदेश में एक सशस्त्र क्रान्तिकारी दल वीर सावरकर के अधिनायकत्व में संगठित हो रहा था। इस दल में अधिकांशतः वे छात्र ही थे, जो भारत से वहाँ वैरिस्टरी आदि पास करने गये थे। इन में पंजाबी, मराठा, गुजराती, बंगाली आदि ऐसे लोग थे, जो एक-दूसरे की भाषा न जानते थे। इस लिए, सब अंग्रेजी में ही आपसी व्यवहार-बातचीत करते थे; परन्तु राष्ट्रीयता का उद्रेक उन्हें इस पर लज्जित करने लगा! "क्यों हम एक विदेशी भाषा में आपसी बात-चीत करें? क्या हमारी अपनी कोई राष्ट्रभाषा नहीं है?" सब ने निश्चय किया कि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है और हम लोग आपस में उसी का व्यवहार करेंगे। उस दल ने अपने व्यवहार के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी स्वीकृत की; यह एक छोटी चीज आज मालूम देती है; परन्तु उस समय का ख्याल कीजिए; जब निरक्षर देश में तो कोई बात ही न थी और पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी में ही शराबोर थे! कांग्रेस का सब काम अंग्रेजी में ही होता था! तब राष्ट्र-भाषा के लिए यह एक सुनहरी किरण थी कि छात्रों में इस के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ!

काशी-नागरी-प्रचारणी-सभा

इस समय हिन्दी का काम सुसंगठित रूप से करने वाली केवल एक संस्था देश में थी—'काशी-नागरी-प्रचारणी-सभा'।

[१६०१—१६१०]

राष्ट्रीयता का उन्मेष

सन् १६०१ से १६१० तक का यह बीसवीं सदी का प्रथम दशक भारतीय क्षितिज पर उषः काल के रूप में आया। कांग्रेस को श्री ह्यूम ने इस लिए जन्म दिया था कि देश वैधानिक प्रगति में उलझ कर सशस्त्र क्रान्ति से हट जाय और अंग्रेजी राज्य मजे से चिरकाल तक इस देश पर डटा रहे। परन्तु इस संगठन का निर्माण राष्ट्रीयता के घंटारव के साथ हुआ था ; इस लिए लोकमान्य पं० बाल गगाधर तिलक और लाला लाजपत राय जैसे नेता भी इस में आ गये थे और इस संगठन को एक लड़ाकू संस्था के रूप में बदल देना चाहते थे, जो वैधानिक प्रगति के लिए नहीं, देश को स्वतन्त्र करने के लिए अंग्रेजी राज्य से लोहा ले। इस संघर्ष के फल-स्वरूप सच्ची राष्ट्रीयता का जागरण हो रहा था और कांग्रेस के बाहर राष्ट्रभाषा की चर्चा जोरों से चल रही थी। अनेक बंगाली, गुजराती, पंजाबी और महाराष्ट्र नेता यह उद्योग कर रहे थे कि अपने राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए, जो अन्तः प्रान्तीय व्यवहार का माध्यम बने और आगे चल कर, जब देश स्वतंन्त्र हो, यही अपनी राष्ट्रभाषा अंग्रेजी भाषा का स्थान ग्रहण कर के समस्त देश की, केन्द्रीय सरकार की, राजभाषा बने। यह भी निश्चय कर लिया गया था कि इस

देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि नागरी हो। इस विचार को कार्य-रूप में भी जहाँ-तहाँ परिणत किया जा रहा था। उस समय विदेश में एक सशस्त्र क्रान्तिकारी दल वीर सावरकर के अधिनायकत्व में संगठित हो रहा था। इस दल में अधिकांशतः वे छात्र ही थे, जो भारत से वहाँ वैरिस्टरी आदि पास करने गये थे। इन में पंजाबी, मराठा, गुजराती, बंगाली आदि ऐसे लोग थे, जो एक-दूसरे की भाषा न जानते थे। इस लिए, सब अंग्रेजी में ही आपसी व्यवहार-बातचीत करते थे; परन्तु राष्ट्रीयता का उद्रेक उन्हें इस पर लज्जित करने लगा! "क्यों हम एक विदेशी भाषा में आपसी बात-चीत करें? क्या हमारी अपनी कोई राष्ट्रभाषा नहीं है?" सब ने निश्चय किया कि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है और हम लोग आपस में उसी का व्यवहार करेंगे। उस दल ने अपने व्यवहार के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी स्वीकृत की; यह एक छोटी चीज आज मालूम देती है; परन्तु उस समय का ख्याल कीजिए; जब निरक्षर देश में तो कोई बात ही न थी और पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी में ही शराबोर थे! कांग्रेस का सब काम अंग्रेजी में ही होता था! तब राष्ट्र-भाषा के लिए यह एक सुनहरी किरण थी कि छात्रों में इस के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ!

काशी-नागरी-प्रचारणी-सभा

इस समय हिन्दी का काम सुसंगठित रूप से करने वाली केवल एक संस्था देश में थी—'काशी-नागरी-प्रचारणी-सभा'।

अन्ततः मालवीय जी ने हिन्दी के पक्ष में एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने इस आन्दोलन में पूरा योग दिया। राष्ट्रीय प्रवृत्ति के छात्रों ने भी काम किया। उस समय बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन नाम के एक छात्र ने भी मालवीय जी के इस आन्दोलन में बड़ा काम किया जो आगे चल कर हिन्दी का मुख्य कर्णधार बना। लाखों व्यक्तियों के हस्ताक्षर हिन्दी के पक्ष में प्राप्त किये गये, जो 'मेमोरेण्डम' के साथ प्रान्तीय सरकार के पास गये। युक्ति-समर्थन तो मालवीय जी का अपूर्व था ही। सरकार को जनता की बात माननी पड़ी; मालवीय जी की विजय हुई; हिन्दी को प्रान्त में (नाममात्र को) जगह मिल गयी! उर्दू के साथ-साथ हिन्दी को भी प्रान्तीय अदालतों के लिए स्वीकार कर लिया गया; यानी नागरी लिपि में लिखी हुई अर्जी आदि ले ली जाया करेंगी; यह निर्णय सरकार ने प्रकट कर दिया!

वह युग तो देखिए! उस समय यह एक क्रान्तिकारी घटना समझी गयी! 'युक्तप्रान्त की अदालतों में अब नागरी-हिन्दी में लिखी अर्जियाँ भी ले ली जाया करेंगी!' कितनी बड़ी बात! इस के लिए वह उतना बड़ा आन्दोलन करना पड़ा था और यह मालवीय जी जैसे धुन के पक्के नेता का काम था कि सरकार से वैसा निर्णय ले लिया। हिन्दी-नागरी की यह एक बहुत बड़ी विजय उस समय समझी गयी थी और खुशी मनायी गयी थी! यह बात सन् १९०१ की है।

'सम्मेलन' का जन्म

हिन्दी-सम्बन्धी जागरण जगमगाता जा रहा था। साहित्यिक रुचि भी बढ़ रही थी। लोग सोच रहे थे 'वङ्गीय साहित्य परिषद्' और 'गुजराती साहित्य-परिषद्' आदि की तरह हिन्दी-साहित्यक्षेत्र का भी कोई सङ्गठन होना चाहिए, जिस के वार्षिक अधिवेशन पर सब साहित्यिक इकट्ठे हो कर साहित्य-सम्बन्धी विचारों का आदान-प्रदान किया करें। उस समय राष्ट्रीय पक्ष का समर्थन करने के लिए मालवीय जी का हिन्दी साप्ताहिक पत्र 'अभ्युदय' अपने पूर्ण वेग से चल रहा था। इसी पत्र में आगरे के पण्डित केदारनाथ भट्ट ने एक सुझाव छपाया कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन कहीं होना चाहिए। 'काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा' के कार्यकर्ता शायद पहले से ही इस विषय में सोच रहे थे। भट्ट जी के इस लेख से और प्रेरणा मिली। 'सभा' के कार्यकर्ताओं ने 'सम्मेलन' करने का निश्चय किया। पूरी तैयारी के साथ धूम-धाम से प्रथम' हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' काशी में आमन्त्रित हुआ। पण्डित मदन मोहन मालवीय के प्रति उस समय हिन्दी-संसार अत्यधिक आकर्षित था। अदालतों में हिन्दी का प्रवेश कराने से वे हिन्दी-जगत् के मूर्द्धन्य हो रहे थे। 'हिन्दुस्तान' नाम का प्रथम दैनिक पत्र, जो हिन्दी में निकला था, उस के आप आद्य सम्पादक के रूप में प्रथम ही प्रख्यात हो चुके थे। इस समय 'अभ्युदय' भी उन की कीर्ति का साक्षी था। कांग्रेस में भी उन की प्रतिष्ठा थी। अंग्रेजी, संस्कृत तथा हिन्दी

के विद्वान् थे। हिन्दी में मधुर कवि के रूप में भी आप प्रकट थे। सो, सभी तरह से उपयुक्त समझ कर हिन्दी संसार ने 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' के प्रथम अधिवेशन का सभापति-पद पण्डित मदन मोहन मालवीय को दिया। १० अक्टूबर १६१० का दिन राष्ट्रीय इतिहास में गर्व के साथ अङ्कित रहे गा, जिस दिन 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' की पहली बैठक हुई। इस सम्मेलन में देश के विभिन्न भागों से साहित्यिक तथा राष्ट्रभाषा-प्रेमी आ कर सम्मिलित हुए थे। सम्मेलन का प्रबन्ध जो तरुण जन कर रहे थे, उन में प्रयाग के बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन मुख्य थे। टण्डन जी इस समय वकालत करते थे।

इसी सम्मेलन में 'पैसा-फण्ड' की व्यवस्था हुई—एक-एक पैसा प्रति व्यक्ति से चन्दा लिया जाय, अदालतों में हिन्दी-प्रचार के लिए। उस समय 'एक पैसा' ही हिन्दी के लिए बहुत था! सरकार ने तो अदालतों के लिए हिन्दी (नागरी) को मान लिया था; पर वकील और मुन्शी लोग इसे घुसने न देते थे! उर्दू का ही एकच्छत्र राज्य चल रहा था। सम्मेलन में निश्चय किया गया कि जनता को समझाया जाय कि हिन्दी में भी अर्जी आदि दी जा सकती है। वकीलों और मुन्शियों को भी समझा कर हिन्दी के पक्ष में किया जाय। इस में कुछ पैसा भी खर्च हो गा। इसी लिए 'पैसा फण्ड' खोला गया था, जिस में काफी आ गया था और उस से आगे यह काम किया गया।

इस प्रथम सम्मेलन में पढ़ने के लिए देश के विद्वानों से निबन्ध मँगाये गये थे। जिन लोगों ने निबन्ध भेजे थे, या पढ़े थे, उन में एक प्रमुख नाम है—

श्री शारदाचरण मित्र

श्री शारदाचरण मित्र कलकत्ता हाईकोर्ट के जज थे और इस के लिए प्रयत्नशील थे कि सम्पूर्ण राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए और वह पद हिन्दी को मिलना चाहिए। मित्र महोदय सम्पूर्ण राष्ट्र की एक 'राष्ट्रलिपि' भी चाहते थे। वे चाहते थे कि बंगला, गुजराती, उड़िया, तामिल, तेलगू आदि सभी भाषाएँ एक लिपि में ही लिखी जाया करें; भिन्न-भिन्न लिपियों में नहीं। और वह एक लिपि है 'नागरी'। मित्र बाबू ने अपने इस राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रगति देने के लिए—

'एकलिपिविस्तार-परिषद्'

एकलिपिविस्तार-परिषद् की स्थापना सन् १९०५ में (कलकत्ते में) की थी और इस के द्वारा वे तन्मयता के साथ राष्ट्र की नीवँ लगाने में जुटे थे। आप अपने विचार को व्यावहारिक रूप देने के लिए एक मासिक पत्रिका भी निकालते थे, जिस में हिन्दी, बंगला, गुजराती आदि विविध भाषाओं में लेख प्रकाशित होते थे—सब नागरी लिपि में! देश का यह ऋषि उस समय क्या देख रहा था? वह प्रान्तीय भाषाओं की अनेकता को लिपि की एकता में लाने का प्रयत्न कर रहा था, जैसे विविध पुष्प

एक सूत्र में ग्रथित हो कर एक माला बनाते हैं। एक वह समय था, जब सभी भारतीय भाषाओं को एक (नागरी) लिपि में लिखने का आन्दोलन चलाया गया था और एक युग वह भी आया, जब (सन् १९३३ के बाद) महात्मा गान्धी जैसे सर्वमान्य राष्ट्र-नेता ने राष्ट्रभाषा (हिन्दी या हिन्दुस्तानी) के लिए भी 'एक लिपि' से मत-भेद प्रकट कर इस (राष्ट्रभाषा) के लिए भी दो लिपियों के सिद्धान्त का प्रचार किया और दृढ़ता के साथ कहा कि राष्ट्रभाषा दो लिपियों में लिखी जाय गी; नागरी और फारसी लिपि का समान रूप से प्रयोग राष्ट्रभाषा के लिए हो गा; होना चाहिए! तीस वर्ष में कितना अन्तर हो गया! इस अन्तर का क्या कारण है, आगे स्वतः प्रकट हो जाय गा।

श्री शारदाचरण मित्र ने एक निबन्ध लिख कर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इस प्रथम अधिवेशन पर पढ़ने के लिए भेजा था उस में एक जगह आप लिखते हैं:—

जीवन सफल हो गा, जिस दिन मैं सारे भारतवासियों के साथ साधु हिन्दी में वार्तालाप करूँ गा।"

मित्र महोदय की ये पंक्तियाँ पढ़ कर उन के चरणों पर सिर झुक जाता है। राष्ट्र-भावना से वे ओत-प्रोत थे और देख रहे थे कि राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने की शक्ति राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि के अतिरिक्त और कहीं है नहीं। यदि उन का वह आन्दोलन सफल हो जाता, देश उधर ध्यान देता, तो आगे चल कर भाषा तथा संस्कृत का भेद बता कर मुस्लिम लीग को वह मौका न मिलता, वह पाकिस्तान का बीज बो कर भारत को खण्डित न कर पाती। उस ऋषि की बात पर किसी ने ध्यान न दिया! एकलिपि-विस्तार पर तो आज भी हमारा ध्यान नहीं है! हाँ, अभी (फरवरी १९४९ में) श्री विनोबा भावे ने कई बार जरूर कहा है कि भारत की सभी भाषाएँ नागरी लिपि में लिखी जानी चाहिए। परन्तु इस के लिए अभी तक कोई प्रयत्न नहीं है; यद्यपि राष्ट्रभाषा की समस्या कुछ सुलझती जा रही है। कुछ भी हो, यह राष्ट्र मित्र बाबू के उस प्रयत्न के लिए सदा ऋणी रहे गा।

'सम्मेलन' का संगठन

प्रथम अधिवेशन में ही यह निश्चय कर लिया गया था कि 'सम्मेलन' का स्वतन्त्र संगठन होना चाहिए और इसे एक अखिल भारतीय संस्था के रूप में स्थायित्व मिलना चाहिए। सम्भव

है, सभापति (पण्डित मदन मोहन मालवीय) की सम्मति से ऐसा हुआ हो, इस (सम्मेलन) के मन्त्री चुने गये बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन बी० ए०, एल० एल० बी०। टण्डन जी की साहित्यिक प्रतिभा तब तक प्रकट हो चुकी थी और वे एक तरुण कर्मयोगी के रूप में सब को आकर्षित कर रहे थे। 'सम्मेलन' के प्रथम सभापति पं० मदन मोहन मालवीय बी० ए०, एल० एल० बी० और प्रथम मन्त्री बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन बी० ए०, एल० एल० बी० ; दोनो प्रयाग के चुने गये ; तब 'सम्मेलन' का कार्यालय भी प्रयाग स्वीकृत हुआ। जहाँ मन्त्री, वहाँ कार्यालय ! 'सम्मेलन' में यह भी स्वीकृत हुआ कि मन्त्री महोदय सम्मेलन की नियमावली तयार करें और विचारार्थ स्थायी समिति की किसी बैठक में उपस्थित करें ; जिसे फिर सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन पर स्वीकृति के लिए उपस्थित किया जाय।

कागज-पत्र भी। टंडन जी अदालत के हाते में भी बैठे 'सम्मेलन' का काम करते रहते थे। वे ही मंत्री थे, वे ही क्लर्क थे; और वे ही सब कुछ थे! धीरे-धीरे उन्हों ने 'एकोऽहं बहु स्याम' के अनुसार सम्मेलन के रूप में अपनी आत्मा का विस्तार किया। कितने ही विभाग हुए, कितने ही विभागीय मन्त्री हुए। तब टंडन जी 'प्रधान मन्त्री' हुए। कई वर्ष तक आप बराबर सम्मेलन के प्रधान मन्त्री निर्वाचित होते रहे। जब सम्मेलन अच्छी तरह सुदृढ़ हो गया, उस का आय-व्यय लाखों पर पहुंच गया, तब प्रधान मन्त्री का पद दूसरे लोगों को दिया जाने लगा और टण्डन जी उसी तरह प्राण-रूप से संस्था को बल देते रहे। आगे ऐसा समय आया, जब 'सम्मेलन' देश की महान् राष्ट्रीय संस्था के रूप में आ कर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए कांग्रेसी इलाकों से टक्कर लेने में समर्थ हुआ।

'सम्मेलन' का 'उद्देश्य'

प्रथम सम्मेलन के अध्यक्ष मालवीय जी और मन्त्री टण्डन जी चुने गये थे; इस लिए इस में राजनीति का पुट आना अनिवार्य था। किसी न किसी दिन देश स्वतन्त्र जरूर हो गा। तब देश की राष्ट्रभाषा क्या हो गी? क्या तब भी अंग्रेजी इसी तरह रहे गी? यह हो नहीं सकता। स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र-भाषा अंग्रेजी नहीं, हिन्दी हो गी, होनी चाहिए। यह काम उस समय तुरन्त न हो जाय गा। यदि अभी से उद्योग न किया गया, तो फिर कुछ न हो गा; लोग कहें गे, अंग्रेजी ही चलने दो! तब

राष्ट्र का कैसा अपमान हो गा। यह होना न चाहिए। स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी हो गी। इस के लिए संगठित रूप में उद्योग करना हो गा। यही सब सोच कर टण्डन जी ने 'सम्मेलन' की नियमावली तयार की और उद्देश्य रखा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना, वैसी स्थिति पैदा करना और तदनुरूप भाषा तथा लिपि (नागरी) का परिष्कार आदि करना। हिन्दी-प्रचार और हिन्दी-साहित्य की प्रगति के लिए हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से परीक्षाएँ लेने का भी निश्चय किया गया। सम्मेलन ने अपना एक परीक्षा-विभाग खोला, जिस ने 'प्रथम' 'द्वितीय' तथा 'तृतीय' परीक्षाओं की व्यवस्था की और इन का परीक्षा-शुल्क नाममात्र का १) २) तथा ३) रु० रखा। यही परीक्षा-विभाग आगे चल कर 'हिन्दी-विश्वविद्यालय' के रूप में परिवर्तित हुआ, जिस की प्रथमा, मध्यमा, ('विशारद') तथा उत्तमा ('साहित्य-रत्न' 'विज्ञान-रत्न' 'आयुर्वेद-रत्न' आदि) परीक्षाएँ देश भर में होती हैं, जिन में लाखों परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं और दूसरे विश्वविद्यालयों के बी० ए०, एम० ए० भी इन परीक्षाओं में बैठ कर गर्व का अनुभव करते हैं।

सम्मेलन के प्रथम वर्ष का कार्य

'सम्मेलन' के प्रथम वर्ष का कार्य था केवल बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन का काम, जो अपना वकालत का काम करते हुए इस में हस्त-गत हुई रही है। सम्मेलन की प्रथम स्थायी समिति निर्वाचित की गयी थी और उस की बैठक आवश्यकतानुसार

बुलायी जाती थी। टंडन जी ने वर्ष के भीतर ही सम्मेलन का ढाँचा तयार कर लिया, नियमावली बना कर स्थायी समिति के सामने उपस्थित कर दी, जिसे 'सम्मेलन' के द्वितीय अधिवेशन (प्रयाग) में स्वीकृति के लिए उपस्थित किया गया। यह द्वितीय अधिवेशन पं० गोविन्द नारायण मिश्र के सभापतित्व में हुआ था। प्रथम वर्ष में 'सम्मेलन' का प्रचार-कार्य इतना हुआ कि 'पैसा फन्ड' से प्राप्त द्रव्य द्वारा कचहरियों में हिन्दी-नागरी के प्रचार का काम किया गया। प्रयाग, हाथरस तथा फतेपुर की कचहरियों में काफी सफलता मिली। एक वर्ष में २१३२ अर्जी आदि कागज-पत्र नागरी-हिन्दी में लिखे हुए कचहरियों में दिये गये! उस समय की गति तो देखिए! हिन्दी का तो गला ही घोंट दिया गया था, नागरी का नाश कर दिया गया था! उसे मालवीय जी ने संजीवनी दी, कुछ साँस आयी। अब सम्मेलन के उद्योग-पोषण से उस में कुछ जान आने लगी थी! उस समय हिम्मत कर के जिन लोगों ने काम किया, वे कैसे महाप्राण थे और कैसे आशावादी थे? उन के चरणों में हमारा सिर स्वतः झुक जाता है।

•

[१९११-१९२०]

सम्मेलन की प्रगति

टंडन जी के सतत अध्यवसाय से 'सम्मेलन' की गति-विधि तीव्र से तीव्रतर होती गयी। सम्पूर्ण देश का समर्थन बहुत जल्दी इसे प्राप्त हो गया। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में सम्मेलन के अधिवेशन आमंत्रित होने लगे। ऐसा जान पड़ता है कि देश उस चीज को चाहता ही था, जो उसे मिल गयी।

प्रचार का मुख्य साधन

'सम्मेलन' के हिन्दी-प्रचार का मुख्य साधन उस का परीक्षा-विभाग बन गया। इस का कारण है। सरकारी परीक्षाओं में हिन्दी को कहाँ तक स्थान प्राप्त था, इस का अन्दाजा इसी से लगा लीजिए कि सातवें दर्जे की हिन्दी-परीक्षा जो सरकारी शिक्षा-विभाग द्वारा युक्त-प्रान्त में ली जाती थी, उसे 'फाइनल परीक्षा' कहते थे! यह प्रकट किया जाता था कि हिन्दी में रखा ही क्या है! सम्मेलन ने जब अपनी परीक्षाएँ चलायीं और इन का प्रचार देश भर में स्वतः हुआ, तब सरकार भी समझी कि जनता चाहती क्या है। हिन्दी के लिए सरकारी महकमे बन्द थे। सम्मेलन की परीक्षाएँ पास करने वालों को सरकारी शिक्षा-विभाग भी स्वीकार न करता था। कहीं कोई तनिक भी बाहरी

प्रलोभन न था। फिर भी, बी० ए० तथा एम० ए० पास किये हुए तरुण जन सम्मेलन की 'विशारद' परीक्षा में बैठते थे, और बड़े ही गर्व के साथ अपने नाम के आगे—राम प्रसाद बी० ए० 'विशारद' इस तरह सम्मेलन-परीक्षाओं से प्राप्त विद्या-पदवी का उपयोग करते थे। यह राष्ट्रीय भावना का एक प्रतीक था।

इन परीक्षाओं का इतना अधिक प्रचार देख कर युक्तप्रान्तीय सरकार ने भी हिन्दी-उर्दू की 'विशेष योग्यता' परीक्षाएँ चलायीं; पर सम्मेलन-परीक्षाओं का महत्त्व बढ़ता ही गया। शुल्क भी कम था; फिर भी परीक्षा-विभाग से 'सम्मेलन' को दस-दस, बीस-बीस हजार रुपये प्रति वर्ष बचने लगे और अब तो लाख-लाख की बचत हो जाती है। यही सब रुपया सम्मेलन के अन्य प्रचार तथा व्यवस्था आदि में खर्च होता था और होता है। इस बचत का कारण यह है कि सम्मेलन-परीक्षाओं के केन्द्र-व्यवस्थापक तथा 'परीक्षक' विद्वान् एक दम राष्ट्रीय सेवा-भावना से काम करते थे—एक भी पैसा सम्मेलन से न लेते थे! आज भी यही स्थिति है। इन साहित्यिक तपस्वी लोगों की तपस्या का ही फल है कि सम्मेलन को कभी भी किसी से भीख नहीं माँगनी पड़ी और काम इतना बढ़ा, महत्त्व ऐसा बढ़ा कि एक दिन (सन् १९३९ में) डा० राजेन्द्र प्रसाद को भी सभापति-निर्वाचन में हारना पड़ा! 'सम्मेलन' के महत्त्व का पता इस से भी लगता है कि महात्मा गान्धी ने दो बार इस के सभापति-पद को अलंकृत किया, जब कि कांग्रेस को एक ही बार उन को

अध्यक्ष बनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ! कहने का मतलब यह कि शिक्षित जन (शिक्षा-संस्थाओं के अध्यापक, पत्रकार तथा अन्य साहित्यकार) 'सम्मेलन' के द्वारा राष्ट्रभाषा के अभ्युत्थान में जुट गये ।

इन परीक्षाओं का ऐसा प्रभाव पड़ा कि धीरे-धीरे अन्य विश्वविद्यालयों ने भी हिन्दी को स्थान दिया ; बी० ए० आदि में हिन्दी चली ; एम० ए० के लिए भी हिन्दी एक विषय बनी । सब से पहले कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने हिन्दी में एम० ए० परीक्षा लेने का सौभाग्य प्राप्त किया । परन्तु प्रथम वर्ष में एम० ए० में बैठने वाला कोई छात्र तयार ही न था ! परीक्षा में किसी न किसी को बैठना जरूरी था ! ऐसी दशा में वृद्ध साहित्य महारथी श्री नलिनी मोहन सान्याल एम० ए० महोदय, इस बुढ़ापे में हिन्दी में एम० ए० परीक्षा देने बैठे ! हिन्दी को सब से पहले एम० ए० में स्थान दिया बंगाल के विद्याकेन्द्र 'कलकत्ता-विश्व-विद्यालय' ने ; हिन्दी के प्रथम एम० ए० एक बंगाली विद्वान् श्री नलिनी मोहन सान्याल और देश भर में एक राष्ट्र-लिपि (नागरी) के विस्तार-प्रसार का प्रथम स्वप्न लेने वाले भी एक बंगाली ही—श्री शारदाचरण मित्र ! इस के अनन्तर फिर अन्य विश्वविद्यालयों ने हिन्दी में एम० ए० परीक्षा लेने की व्यवस्था की । अब तो सहस्रों की संख्या में हिन्दी-एम० ए० हैं और बढ़ते ही जा रहे हैं । फिर भी, सम्मेलन-परीक्षाओं का महत्त्व बढ़ता ही जा रहा है । हिन्दी में एम० ए० कर लेने के बाद भी 'साहित्य-रत्न' बनते हैं । अब सरकार भी सम्मेलन-

परीक्षाओं को मान्यता दे रही है ; पर जैसे वे-मन से उसे यह करना पड़ रहा हो ! अत्यन्त धीरे-धीरे और उदासीन भाव से पग आगे बढ़ रहे हैं। किन्तु हिन्दी में जनता की शक्ति है। उसे अभी तक किसी भी सरकार की सहायता न प्राप्त थी। सरकारों ने तो उसे कुचला ही है। जन-शक्ति के बल पर जीवित रही और अब बढ़ रही है। अभी (सन् १६४८ में) हिन्दी युक्त-प्रान्त की राज-भाषा घोषित हो चुकी है और उस के साथ ही बिहार, मध्य प्रान्त, विन्ध्य प्रदेश, मध्यभारत, राजस्थान आदि ने भी हिन्दी को राजभाषा घोषित कर दिया है। फिर भी, राष्ट्रभाषा-पद के लिए अभी संघर्ष चल रहा है, जो जल्दी ही समाप्त हो गा। हिन्दी राष्ट्रभाषा बने गी। तब हिन्दी को पूर्ण महत्त्व प्राप्त हो गा। हाँ, मैं बात तो इस सदी के द्वितीय दशक (१९११-२०) की कर रहा था न ! पहुँच गया १६४८ में खैर, अब यहीं लौट आइए !

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय

मालवीय जी काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना के सपने देखने लगे थे। वे उस में जुट गये। काशी-नरेश तथा व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयाल शर्मा उन के दो भुज-दण्ड थे। काशी-नरेश ने धन तथा भूमि-दान में उदारता दिखायी और पं० दीनदयाल शर्मा ने मालवीय जी के साथ देश का दौरा किया। मालवीय जी की अपील पर रुपया बरसने लगता था।

मालवीय जी की इच्छा थी कि हिन्दू-विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम हिन्दी रहे। उन्हों ने उस समय के गवर्नर जनरल के सामने जब विश्वविद्यालय का विधान रखा, तो उस ने हिन्दी का माध्यम अस्वीकार कर दिया! उस ने कहा—'हम (अंग्रेज) जिस भाषा को नहीं जानते, उसे किसी 'चार्टर्ड' विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता।' तब, अगत्या मालवीय जी को अंग्रेजी माध्यम रखना पड़ा, यह सोच कर कि जब अंग्रेज जायँ गे, तब हिन्दी को माध्यम होने से कौन रोके गा? तब कर लें गे!

विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम तो हिन्दी न हो सकी; पर देश में विश्वविद्यालय के लिए भ्रमण जो मालवीय जी ने किया, उस से हिन्दी को बहुत बल मिला! मालवीय जी सर्वत्र हिन्दी पर जोर देते थे।

'सम्मेलन' ने इस दूसरे दशक में अत्यन्त वेग से अपना कार्य-क्रम चलाया। इसे आगे चल कर गांधी जी का सहयोग भी प्राप्त हो गया।

गान्धी जी का सहयोग

सन् १९१४ में गान्धी जी दक्षिण अफरीका से भारत वापस आ गये। आते ही राजनीति में दाखिल हो गये और कांग्रेस के नेता पं० गोपाल कृष्ण गोखले को

अपना 'राजनैतिक गुरु' आप ने घोषित किया। उस समय गान्धी जी के साथ जनता 'कर्मवीर' विशेषण लगाती थी। 'महात्मा' विशेषण तो सन् १६१६ में लगा। सो, 'कर्मवीर' गान्धी का समर्थन हिन्दी को मिला। उस समय आप हिन्दी पर अत्यधिक जोर देते थे। 'सम्मेलन' ने आप का सहयोग प्राप्त किया और आगे इन्दौर-अधिवेशन में आप सभापति निर्वाचित हुए। सब लोग जानते हैं कि वे जिस काम को उठाते थे, किस तत्परता के साथ उसे आगे बढ़ाते थे। 'सम्मेलन' के कार्य-क्रम को भी आप ने आगे बढ़ाया और मद्रास में हिन्दी-प्रचार की योजना बनी।

मद्रास में हिन्दी-प्रचार

मद्रास की ओर विशेष ध्यान देने की जरूरत थी। बंगाल का केन्द्र-स्थान कलकत्ता है, जहाँ हिन्दी- भाषा-भाषी व्यापारी और मजदूर लाखों की संख्या में रहते हैं। वहाँ मारवाड़ी, गुजराती और पञ्जाबी आदि विविध प्रदेशों के सब तरह के लोग एक जगह रहते हैं। स्वभावतः वे सब आपस में हिन्दी ही बोलते हैं। एक पंजाबी किसी मारवाड़ी से, मारवाड़ी गुजराती से, गुजराती किसी बंगाली से हिन्दी में ही बात करता है। बंगाली भी मारवाड़ी, गुजराती, पंजाबी और युक्त प्रान्त या बिहार के किसी आदमी से हिन्दी में ही बात करते हैं। इस लिए, वहाँ हिन्दी सब लोग अच्छी तरह समझते हैं। हिन्दी-शिक्षण के लिए वहाँ पूरी व्यवस्था बहुत दिन से है।

कलकत्ते का प्रभाव सम्पूर्ण बंगाल पर पड़ता है। और, कलकत्ते के अतिरिक्त भी बंगाल के अन्य बड़े शहरों में हिन्दी का प्रवेश बहुत पहले से है। युक्त प्रान्त, विहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, मध्यभारत आदि तो हिन्दी-क्षेत्र ही हैं। पंजाब में आर्य-समाज तथा सनातनधर्म-सभा के स्कूल-कालेजों ने हिन्दी का प्रचार खूब किया। गुजरात भी हिन्दी की दिशा में पीछे नहीं रहा। वह तो महात्मा जी का कार्य-केन्द्र ही बहुत दिन तक रहा। बम्बई शहर, कलकत्ते की ही तरह, हिन्दी माध्यम से चलता है। महाराष्ट्र प्रान्त हिन्दी का सब से अधिक पक्षपाती सदा रहा है और सच बात कही जाय, तो महाराष्ट्र ने या मराठों ने जो प्रयत्न राष्ट्रभाषा के लिए किया है, वह अन्य किसी प्रान्त ने नहीं, किसी अहिन्दीभाषी प्रान्त ने नहीं (लोकमान्य तिलक के कार्य-काल में ही हिन्दी ने राष्ट्रभाषा के रूप में प्रवेश किया)। पूना से 'हिन्दी चित्रमय जगत्' जो निकलता था, छोटे पर मैं बड़े चाव से पढ़ा करता था। स्व० माधव राव सप्रे ने हिन्दी की जो सेवा की, भुलायी नहीं जा सकती। भारतवर्ष में सब से पहले किसी सरकार ने हिन्दी को 'राजभाषा' के पद पर बैठाया, तो बड़ौदा-सरकार ने, एक मराठा-राज्य ने। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को भी बड़ौदा-राज्य से समय-समय पर सहायता और प्रोत्साहन मिला है। ग्वालियर भी एक मराठा राज्य है, जहाँ 'सम्मेलन' का अधिवेशन राज-संरक्षण में धूम-धाम से उस समय हुआ, जब दूसरे राजा 'सम्मेलन' के नाम से चौंकते थे, "राष्ट्रीय संस्था है! कहीं अंग्रेज सरकार नाराज न हो जाय!" महाराष्ट्र की बात कर रहा

था ; मराठों की चर्चा करने लगा। परन्तु चर्चा करने को मन करता है। भारतीय विधान-परिषद् जब बैठी, तो वहाँ सब से पहले और सब से अधिक हिन्दी का समर्थन झाँसी के एक मराठा सज्जन (श्री धुलेकर) ने किया। अभी आज ही (ता० २ अप्रेल १९४९) के समाचार-पत्रों में पढ़ा है कि मध्यप्रान्तीय सरकार के खाद्य-मन्त्री श्री पाटिल 'राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति' की प्रथम हिन्दी-परीक्षा ('हिन्दी-परिचय') में नियमानुसार बैठे थे, जो उत्तीर्ण हो गये हैं। श्री पाटिल एक महाराष्ट्र आई० सी० एस० हैं, जिन्हों ने सरकारी नौकरी छोड़ कर राष्ट्रीय आन्दोलन का साथ दिया था और जब (सन् १९४६ में) दुबारा प्रान्तीय शासन कांग्रेस के हाथ में आने पर आप एक मन्त्री बने, तो सब से पहले आप ने ही सब सरकारी काम हिन्दी में करना शुरू किया। भारतवर्ष में यह प्रथम अवसर था, जब किसी मन्त्री ने सरकारी हुक्म हिन्दी में करना शुरु किया। सो, मराठों पर राष्ट्रको गर्व है। सारांश यह कि भारत के सभी प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार हो रहा था। जैसे-जैसे राष्ट्रीयता बढ़ती जाती थी हिन्दी की ओर स्वतः आकर्षण पैदा होता जाता था। परन्तु मदरास—दक्षिण भारत—की ओर ध्यान देने की जरूरत थी। यद्यपि मुसलमानी शासन-काल में, उर्दू के रूप में हिन्दी वहाँ पहुँच चुकी थी और मुसलमानों में अब तक उस का प्रसार था ; पर हिन्दु जनता उस से दूर रही ! फारसी लिपि तथा अरबी-फारसी के शब्दों की भरमार से दक्षिण भारत के हिन्दू लोगों ने उसे मुसलमानी चीज समझा और उस से दूर

रहे। दक्षिण भारत का कोई भी मुसलमान 'तू क्या करे गा ?' 'मैं यहाँ रोटी खाऊँ गा' यह सब समझ—बोल सकता था; पर हिन्दू जनता के लिए यह कठिन चीज थी। तीर्थ-यात्रा करने वाले साधु-सन्त जब उधर जाते थे, तो मुसलमानों से बात-चीत कर के काम निकाल लेते थे। औरों से संकेत आदि का प्रयोग कर के बात प्रकट करते थे। बेचारे तीर्थ-यात्री सब अंग्रेजी पढ़े तो होते न थे कि मदरासियों से अंग्रेजी में बात कर लेते। सो, जरूरत समझी गयी कि मदरास में दक्षिण भारत में—हिन्दी-प्रचार किया जाय।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार के अग्रदूत स्वामी सत्यदेव परिव्राजक हुए, जिन के साथ श्री देवदास गान्धी (महात्मा गान्धी के सुपुत्र) को भी भेजा गया। स्वामी सत्यदेव ने जन्म भर हिन्दी का प्रचार और राष्ट्रीय भावना पैदा करने का ही काम किया है। तब तक वे देश में और विदेश में (अमरीका आदि के भारतीय छात्रों में) हिन्दी-प्रचार का काफी काम कर चुके थे। सो, स्वामी सत्यदेव और श्री देवदास गान्धी के अधिनायकत्व में एक हिन्दी-प्रचारक दल दक्षिण भारत भेजा गया जिस का वहाँ हार्दिक स्वागत हुआ। राष्ट्रीयता लहरें मार रही थी और राष्ट्र-भाषा का आह्वान हो रहा था। देखते-देखते ऐसा जागरण हुआ कि बहुत जल्दी 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना मदरास में हुई।

'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचारक सभा'

'सम्मेलन' के अन्तर्गत दक्षिण भारत की यह 'सभा' कुछ ही दिनों में अपने पैरों खड़ी हो गयी। इस 'सभा' ने अपनी सरल हिन्दी-परीक्षाएँ चलायीं, जिन में बहुत जल्दी दस-दस हजार छात्र बैठने लगे। 'सभा' का बजट लाखों का बनने लगा। उस का अपना सुविशाल भवन तथा बहुत बड़ा प्रेस आदि हो गया। कोष भी अच्छा जमा हो गया। तब, दक्षिण भारत की मांग पर, सम्मेलन ने उसे स्वतंत्र कर दिया। 'सम्मेलन' का कोई अंकुश उस पर न रहा और वह 'सभा' स्वतंत्र जनतंत्रीय संस्था के रूप में राष्ट्रभाषा के प्रचार का काम करने लगी।

युक्तप्रान्त में संघर्ष

जहाँ अन्य प्रान्तों में हिन्दी-सम्बन्धी जागरण हो रहा था, युक्तप्रान्त में एक संघर्ष चल रहा था। एक ओर उर्दूवाले बुरा मान रहे थे, दूसरी ओर अंग्रेजी के हिमायती बुरी तरह चिढ़ रहे थे। इतना जान लेना जरूरी है कि सम्मेलन ने अपने इतने लम्बे कार्य-काल में कभी भी, किसी भी रूप में उर्दू का विरोध नहीं किया है। हिन्दी-नागरी का समर्थन तथा प्रचार करना ही उस का काम रहा है। फिर भी, उर्दूवाले बुरा मानते रहे। अंग्रेजी के पक्षपाती तो बुरी तरह नाक-भौं सिकोड़ते रहे। अखिल भारतीय राष्ट्रमहासभा (आल इण्डिया नेशनल कांग्रेस) का तो सब काम-काज अंग्रेजी में होता ही था, युक्तप्रान्तीय

राजनैतिक सम्मेलन (कान्फ्रेंस) में भी अंग्रेजी ही बूँकी जाती थी!

सन् १६१४ के इधर-उधर की बात है—फैजाबाद में प्रान्तीय कान्फ्रेंस का अधिवेशन था। उस समय तक 'माडरेट' भी कांग्रेस में ही थे, उन का 'लिबरल फेडरेशन' अलग न बना था। सो, प्रान्त के श्री सी० वाई० चिन्तामणि तथा पं० हृदयनाथ कुंजरू आदि भी कान्फ्रेन्स में भाग लेते थे। फैजाबाद में बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी के लिए अड़ गये, बड़े जोर से हिन्दी का समर्थन किया। कहा—कान्फ्रेंस का सब काम हिन्दी में होना चाहिए। 'लीडर' के तेजस्वी सम्पादक श्री सी० वाई० चिन्तामणि उन लोगों के अगुआ थे, जिन्हों ने अंग्रेजी का पक्ष लिया। टंडन जी के प्रमुख सहयोगी इस संघर्ष में काशी के बाबू शिव प्रसाद गुप्त थे। मामला इतना बढ़ा कि श्री चिन्तामणि बहुत रुष्ट हो गये।

बाबू शिव प्रसाद गुप्त ने हिन्दी की जो सेवा की, दूसरे धनी ने नहीं। वे धन से ही नहीं, कलम से भी हिन्दी की सेवा करते थे। 'सम्मेलन' के वे प्रमुख कार्यकर्ता थे। 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' उन्हीं का स्थापित किया है। एक बार, (सन् १६३४ के इधर-उधर) की बात है, गुप्त जी ने अपनी मोटर के नंबर हिन्दी-नागरी में लिखा दिये, अंग्रेजी के पुतवा दिये! बड़े गर्व से आप मोटर में बैठ कर निकले, तो पुलिस ने चालान कर दिया—

'नम्बर अंग्रेजी में क्यों नहीं, हिन्दी में क्यों हैं ?' गुप्त जी बड़े दुर्धर्ष थे। हिन्दी-नम्बर का आनन्द लेते ही रहे। मुकदमा चला। आप ने सफाई में कहा—"मोटर में नम्बर तो लगे हैं। कानून में केवल नम्बर लगाना कहा गया है; यह नहीं कहा गया है कि अंग्रेजी में ही नम्बर लगाओ, या हिन्दी में मत लगाओ। सो, हम ने हिन्दी में नम्बर लगा कर कानून का पालन किया है, उसे तोड़ा नहीं है। इस लिए, मेरे ऊपर कोई अपराध नहीं है।" परन्तु मजिस्ट्रेट ने आप की एक न सुनी और सजा (आर्थिक दण्ड) दे कर उस ने अपने 'कर्तव्य' का पालन किया। बाबू शिव प्रसाद गुप्त ने इस फैसले की अपील हाई कोर्ट में की। हाई कोर्ट ने भी सजा बहाल रखी और लिखा कि "वह कानून की किताब जिस भाषा में लिखी है, उसी भाषा में नम्बर चाहिए।" कहते हैं, तब से बाबू शिव प्रसाद गुप्त मोटर में बैठे ही नहीं। फिर तो आप बीमार हो कर खाट पर पड़ गये और सार्वजनिक सेवा के योग्य आप का स्वास्थ्य हुआ ही नहीं। गुप्त जी कांग्रेस के कोषाध्यक्ष बहुत दिन तक रहे; सेठ जमना लाल बजाज तो बाद में इस पद पर आये थे। गुप्त जी ने हिन्दी की समृद्धि के लिए अनेक संस्थाएँ काशी में ही स्थापित की थीं। 'काशी-विद्यापीठ' भी आप की ही दानशीलता का फल है।

टंडन जी मिनिस्टर हुए

सन् १६१० से १६१४ तक, चार वर्ष टंडन जी 'सम्मेलन' के काम में ऐसे उलझे कि वकालत बिलकुल ठप हो गयी! भूखों

मरने की नौबत आ पहुंची। इस समय तक 'सम्मेलन' का काम जम गया था और वह कई विभागों में विभक्त हो कर अच्छी तरह चल रहा था। सम्मेलन के 'परीक्षा-विभाग' ने प्रचार का खूब काम किया और आर्थिक कठिनाई भी हल कर दी। 'सम्मेलन' तो जमा, पर टंडनजी के घर की हालत बिगड़ी। तब नौकरी की सूझी! टंडन जी पंजाब की 'नाभा' रियासत में 'फारेन मिनिस्टर' हो कर चले गये। उस समय नाभा की राज-गद्दी पर महाराज रिपुदमन सिंह जी थे, जिन्हें बाद में अंग्रेज-सरकार ने गद्दी से उतार कर निर्वासित कर दिया था! संभव है, टंडन जी को 'मिनिस्टर' बनाने का ही यह फल हो! परन्तु टंडन जी के रहते महाराज गद्दी से नहीं उतारे गये, उन के चले आने पर ही वह कांड हुआ; यद्यपि वे (टंडन जी) बहुत दिन वहां न टिके थे! कारण यह हुआ कि टंडन जी 'सम्मेलन' की 'स्थायी समिति' की प्रत्येक बैठक में भाग लेने प्रयाग आते थे और 'सम्मेलन' की गति-विधि की देख-भाल करते थे। एक बार उन के आने में कुछ रुकावट पड़ गयी; बस, मिनिस्ट्री छोड़ कर चले आये! हजारों रुपये मासिक वेतन का ओहदा छोड़ कर फिर प्रयाग आ गये और फिर वहीं वकालत करने लगे। धीरे-धीरे वकालत कुछ चलने लगी; पर कुछ ही दिन बाद रौलट ऐक्ट, जलियाँ वाला बाग, सत्याग्रह! टंडन जी अपने को राष्ट्र का सेवक और गान्धी जी का एक 'सिपाही' बड़े गर्व से कहते हैं! सत्याग्रह में कूद पड़े।

[१६२१-३०]

सत्याग्रह के दिनों में

सत्याग्रह के दिनों में हिन्दी को स्वभावतः शक्ति मिली। गुरुकुल कांगड़ी आदि में शिक्षा का माध्यम हिन्दी पहले से ही थी; अब काशी-विद्यापीठ, विहार-विद्यापीठ, आदि राष्ट्रीय संस्थाओं ने जन्म ले कर हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया। तिलक-विद्यापीठ (पूना) तथा गुजरात-विद्यापीठ (अहमदावाद आदि में भी हिन्दी ने सिर ऊँचा किया। वड़े वेग से राष्ट्रभाषा की लहर चली। इसी समय हिन्दी-साहित्य ने अपनी सर्वतोमुखी अभिवृद्धि की। इसी समय श्री प्रेमचन्द-जैसे उत्कृष्ट लेखक उर्दू से हिन्दी में आये। इस प्रकार हिन्दी वढ़ रही थी, राष्ट्रीयता के साथ-साथ। जहाँ हिन्दी पहुँच जाती थी, वहाँ राष्ट्रीयता सुदृढ़ हो जाती थी।

सत्याग्रह प्रारम्भ होते ही सब नेता जेल चले गये! टंडन जी भी जेल चले गये। 'सम्मेलन' के सहस्रशः कार्य-कर्ता जेल चले गये। फिर भी, सम्मेलन चलता रहा और उस के वार्षिक अधिवेशन भी बराबर होते रहे। जेलों से बाहर धीरे-धीरे नेता और कार्य-कर्ता आये। टंडन जी भी बाहर आये और आ कर 'सम्मेलन' की प्रगति देखी, तो सेरों खून शरीर में वढ़ गया!

बराबर प्रगति हो रही थी। मदरास के श्री टी० प्रकाशम् आदि कांग्रेसी नेता हिन्दी तथा 'सम्मेलन' की ओर अग्रसर हो रहे थे; यद्यपि कांग्रेस भाषा-सम्बन्धी मामले में मौन थी। वह अंग्रेजी भाषा में लिपटी चली जा रही थी, न हिन्दी से मतलब, न उर्दू से! जनता हृदय से हिन्दी को अपनाती जा रही थी। इन दिनों 'सम्मेलन' की परीक्षाओं का प्रचार बहुत अधिक हुआ।

कानपुर-कांग्रेस

कानपुर-कांग्रेस में श्री पुरुषोत्तम दास टंडन ने यह प्रस्ताव रखा कि कांग्रेस की सब कार्रवाई हिन्दी-उर्दू में हुआ करे। जहां जैसा सम्भव हो। प्रस्ताव तो पास हो गया; पर उस पर अमल नहीं हुआ। हां, कांग्रेस-अधिवेशन पर लोग भाषण हिन्दी-उर्दू या 'हिन्दुस्तानी' में देने लगे। अधिक जोर हिन्दी का रहा। इस का मतलब यह कि जनता हिन्दी के लिए छटपटा रही थी, कांग्रेस के कार्य-कर्ता भी हिन्दी चाहते थे; फिर भी कांग्रेस ने अंग्रेजी का मोह न छोड़ा। 'सम्मेलन' जनता में हिन्दी के प्रति अनुराग पैदा करता रहा; सरकारी काम-काज में उसे स्थान दिलाने के लिए भी संघर्ष करता रहा और कांग्रेस को भी प्रभावित करता रहा।

इसी दशक में एक बड़ी घटना हुई—

आचार्य द्विवेदी का अवकाश-ग्रहण

हिन्दी-संसार ने इस युग में एकमात्र पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी को 'आचार्य' के रूप में ग्रहण किया। केवल उन्हीं के नाम के साथ 'आचार्य' शब्द का प्रयोग हुआ। बाद में तो सैकड़ों 'आचार्य' हो गये! आचार्य द्विवेदी ने अपना काम पूरा कर लिया था। वे हिन्दी का परिष्कार कर के उस के साहित्यिक रूप को व्यवस्थित कर चुके थे; हिन्दी में कविता को नयी दिशा दे चुके थे; श्री मैथिली शरण गुप्त-जैसे राष्ट्र-कवि पैदा कर चुके थे। हिन्दी का आन्तर और वाह्य उज्ज्वल हो चुका था, 'सभा' भी ठीक रास्ते पर आ चुकी थी और हिन्दी का उज्ज्वलतम भविष्य सामने था। द्विवेदी जी वृद्ध हो गये थे और उन्हें जो कुछ करना था, जो उन्हीं को करना था, सब पूरा हो चुका था। ऐसी दशा में आप ने कार्य-क्षेत्र से अवकाश ग्रहण कर के एकान्त जीवन बिताना चाहा। और 'सरस्वती' की सेवा से अलग हो कर के देहात में चले गये। अपने गाँव (दौलतपुर - राय बरेली) में रह कर ग्रामीण दुखी जनता की सेवा करने लगे। द्विवेदी जी 'सरस्वती' से अलग हुए, तो श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी एम० ए० उस के प्रधान सम्पादक हुए और सहायक पं० देवीदत्त शुक्ल।

सच कहा जाय, तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में दो ही विभूतियों ने सब से अधिक काम किया है। और सम्पूर्ण हिन्दी-

संसार इन के पीछे है। वे विभूतियाँ हैं १—आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और २—श्रद्धेय बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन। दोनों ने अपने-अपने ढंग से जो काम किया है, वह अप्रतिम है।

द्विवेदी जी के अवकाश-ग्रहण करने पर एक धक्का लगा; पर उन्हों ने तो अनन्त जागरण पैदा कर दिया था; लाखों शिक्षित तरुण खड़े कर दिये थे, जो उन के काम को आगे बढ़ाने में कभी चूके नहीं। द्विवेदी जी अपने गाँव से भी व्यक्तिगत रूप से साहित्यिकों को आदेश-निर्देश देते रहते थे। द्विवेदी जी ने जो कुछ पैसा जन्म भर में बचा पाया था, सब 'काशी-हिन्दूविश्व-विद्यालय' को दे दिया और आदेश दिया कि इस के व्याज से गरीब छात्रों को छात्र-वृत्ति दी जाया करे। उन्हों ने अपना पुस्तक-संग्रह 'काशी-नागरी प्रचारिणी सभा' को दे दिया और अपने महत्त्वपूर्ण कागज-पत्रों का सुविशाल संग्रह भी 'सभा' को दे दिया; इस आदेश के साथ कि कागज-पत्रों के इन बंडलों को "मेरे जीवन-काल में न खोला जाय"। आचार्य द्विवेदी का स्वर्ग-वास जब (१६३८ में) हुआ, तो हिन्दी-संसार ने वज्रपात का अनुभव किया! द्विवेदी जी का महान् अभिनन्दन हिन्दी-संसार ने इन से पहले कर लिया था; यह अच्छा हुआ। अन्यथा, और भी अधिक अन्तर्दाह होता।

द्विवेदी जी के स्वर्गवास के काफी दिन बाद तक जब 'सभा' ने द्विवेदी जी के उन कागज-पत्रों के बारे में कोई चर्चा न की, तो उसे पत्र लिख कर पूछा गया। जवाब न मिलने पर रजिस्ट्री

पत्र दिया गया। वह भी निष्फल। तब १६३६ में इस की चर्चा जोर से उठायी गयी। 'सभा' के अधिकारियों ने साफ इनकार कर दिया—'हमारे पास द्विवेदी जी के कागज-पत्रों के कोई वण्डल नहीं हैं।' तब, एक प्रमाण के आधार पर, 'सभा' को अदालती नोटिस दिया गया और राष्ट्रीय सामग्री हजम करने का अभियोग लगा कर मामला अदालत में ले जाने को कहा गया। तब 'सभा' के अधिकारियों ने स्पष्ट रूप से माना कि "आचार्य द्विवेदी के दिये हुए कागज-पत्र कई वण्डलों में सुरक्षित हैं; चाहे जो देख सकता है।" इन कागज-पत्रों में हिन्दी का तथा हिन्दी-साहित्य का, लगभग पचास वर्ष का इतिहास है। बाबू श्याम सुन्दर दास, महाकवि हरिऔध, कविवर श्री मैथिली-शरण गुप्त, महर्षि पं० मदन मोहन मालवीय, श्री गौरी शङ्कर हीराचन्द ओझा, मि० ग्रियर्सन आदि साहित्यिकों ने तथा नेताओं ने समय-समय पर जो हिन्दी तथा हिन्दी-साहित्य आदि के सम्बन्ध में द्विवेदी जी को पत्र लिखे थे, वे सब सुरक्षित हैं। इन कागज-पत्रों में अनेक पाण्डुलिपियाँ आप देखें गे, जिन पर द्विवेदी जी के संशोधन हैं। द्विवेदी जी ने 'सभा' को एक पत्र में स्वयं लिखा था कि "इन कागज-पत्रों से लोगों को मालूम हो गा कि किसी समय हिन्दी की तथा हिन्दी-साहित्य की क्या दशा थी। इसी लिए इन्हें सुरक्षित रखा गया है और 'सभा' के सिपुर्द किया जा रहा है।" द्विवेदी जी के पत्र के ठीक शब्द मेरे सामने नहीं हैं; मतलब यही है। वह पत्र भी उसी संग्रह में मैं ने देखा। सो, द्विवेदी जी ने इतिहास का निर्माण किया है।

उन्हों ने हिन्दी को हिन्दी बनाया है, राष्ट्रभाषा होने योग्य रूप उसे दिया है। विरोधियों से डट कर टक्कर वे लेते थे। कानपुर के उर्दू पत्र 'जमाना' को जो जवाब उन्हों ने 'सरस्वती' में दिया था, देखने योग्य है। अपने युग में उन का व्यक्तित्व ही हिन्दी का प्रतिनिधित्व करता था। जो काम उन्हों ने अकेले किया, वह सौ संस्थाएँ मिल कर भी नहीं कर सकीं ; नहीं कर सकती थीं। वे कर्म-योगी थे, ऋषि थे।

हाँ, तो कह रहा था कि बीसवीं सदी के तृतीय दशक में आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी-सेवा से अवकाश ग्रहण किया। हिन्दी नहीं, 'सरस्वती' पत्रिका की सेवा से अवकाश ग्रहण किया। हिन्दी की सेवा तो वे अन्त तक करते रहे। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने उन के कागज-पत्रों' के बारे में वैसा रुख क्यों ग्रहण किया था ; इस का पता न चल सका !

श्रद्धेय टंडन जी विषम परिस्थिति में

सत्याग्रह-आन्दोलन महात्मा गान्धी ने, चौरीचौरा कांड के कारण, पूरी तरह से स्थगित कर दिया और इस तरह जेल जाना-आना बन्द हुआ। अपनी-अपनी सजा काट कर कार्य-कर्ता और नेता जेल से बाहर आये। श्रद्धेय टंडन जी भी घर आये। जो कुछ बचा-बचाया पैसा था, घर वाले तीन वर्ष में खा-पी चुके थे। अब हाथ खाली था। वकालत टंडन जी छोड़ ही चुके थे। 'सम्मेलन' के काम में वे जेल से आते ही जुट गये। किसान-

संगठन आदि राजनैतिक काम भी कर रहे थे। परन्तु घर में रोटी का ठिकाना न था! सन् १९२३ से २६ तक के दिन बड़ी ही कठिनाई से कटे। उन के लड़के भी तब तक शिक्षा पूर्ण न कर सके थे। कालेज में उन के पढ़ने का खर्च भी था। लोग बतलाते हैं, उन दिनों टंडन जी चने चबा-चबा कर ही कई-कई दिन बिता देते थे। घर के लोगों को दूध-घी तो क्या, साग-भाजी भी अच्छी तरह मिलना बड़ी बात थी! फिर भी, टंडन जी की राष्ट्रभाषा-सेवा में तथा राष्ट्र-सेवा की दूसरी प्रवृत्तियों में कोई कमी नहीं आयी! उन की इस गरीबी का पता भी बाहर किसी को न लगता था। उन के अन्तरंग मित्र ही यह सब जानते थे। आयुर्वेद-पंचानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल से मुझे बहुत सी बातें मालूम हुईं; जो टंडन जी के निजी लोगों में उस समय थे। किसी तरह समय कटा और लड़के काम करने लगे; कोई बैंक में, कोई कालेज में। गुजारे लायक पैसा आने लगा और स्थिति ठीक हुई। वैसे समय में बड़े-बड़े कर्मठ जन विचलित होते देखे गये हैं; पर श्रद्धेय टंडन जी हिमालय की तरह कर्तव्य-क्षेत्र में अटल रहे।

टंडन जी राजनीति की प्रगति का लाभ उठा कर हिन्दी-प्रचार का काम द्रुतगति से बढ़ा रहे थे। 'सम्मेलन' देश के विविध प्रान्तों में राष्ट्रभाषा का प्रसार करने में सफलता प्राप्त कर रहा था। कांग्रेस तो नहीं; पर अधिकांश कांग्रेसी नेताओं का झुकाव इस ओर हो रहा था। लक्षण बहुत अच्छे स्पष्ट नजर आते थे।

साहित्यिक असन्तुष्ट

परन्तु 'सम्मेलन' की इस प्रचारात्मक गति-विधि से कुछ साहित्यिक असन्तुष्ट हो रहे थे! वे साहित्यिक बार-बार टंडन जी पर बिगड़ते थे और कहते थे कि 'सम्मेलन' से 'साहित्य' शब्द अलग कर देना चाहिए; यदि साहित्य-निर्माण तथा साहित्यिक गति-विधि को उत्तेजन देने के लिए यहाँ कुछ नहीं होता। यद्यपि 'सम्मेलन' का साहित्य-विभाग कुछ न कुछ साहित्य-सम्बन्धी काम कर ही रहा था और उस के परीक्षा-विभाग द्वारा भी साहित्य को पूर्ण प्रगति मिल रही थी; साथ ही 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' आदि के द्वारा भी हिन्दी-साहित्य को बल मिल रहा था; फिर भी इस की मुख्य शक्ति प्रचारात्मक कामों में लगी थी और अधिवेशनों पर भी साहित्यिक चर्चा के लिए समय न मिलता था। देश भर में हिन्दी के प्रचार तथा अधिकार पर उठी समस्याओं को सुलझाने में ही सब समय लग जाता था! मुजफ्फरपुर-अधिवेशन से लौट कर पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने मुझे एक पत्र में लिखा था—"सम्मेलन दिन पर दिन असाहित्यिक और प्रचारात्मक होता जा रहा है!"

इस तरह कुछ साहित्यिक बे-तरह असन्तुष्ट थे; पर सम्मेलन में भाग अवश्य लेते थे। साहित्यिक ही तो इसे चला रहे थे। कम-से-कम वर्ष में एक बार दर्शन-मेला तो हो ही जाता था। टंडन जी इन से काम ले रहे थे। वे स्वयं साहित्यिक हैं; यद्यपि

कुछ लिखने-छापने को उन्हें कभी फुर्सत नहीं मिली। सो, साहित्यिक लोग टंडन जी को अपना ही समझते थे और दबते भी थे। झुंझलाहट तो थी ही! उन्हें क्या पता था कि टंडन जी क्या देख रहे हैं। यदि सम्मेलन प्रचारात्मक संस्था बना कर उस रूप में न आता, तो आगे चल कर हिन्दी के लिए संघर्ष कौन करता? साहित्य तो बाद की चीज है और उचित अवसर पर, सन् १९४८ में, सम्मेलन ने कई लाख रुपये खर्च कर के अपना प्रेस लगाया है। उच्च श्रेणियों में चलने योग्य साहित्य तैयार करा के यहाँ से प्रकाशित किया जाय गा।

हिन्दी से क्षोभ

जैसे-जैसे राष्ट्रीय उत्कर्ष देश को प्राप्त होता जा रहा था, हिन्दी का बल स्वतः बढ़ रहा था। इस दशक में महात्मा गान्धी फिर 'सम्मेलन' के सभापति इन्दौर-अधिवेशन पर चुने गये। इन्दौर में सम्मेलन का दूसरी बार अधिवेशन और महात्मा गान्धी दूसरी बार सभापति। इस से 'सम्मेलन' की शक्ति और बढ़ी।

राष्ट्रभाषा-प्रचारसमिति

'सम्मेलन' की ओर से वर्धा में राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति का संगठन हुआ। दक्षिण भारत के अतिरिक्त अन्य अहिन्दीभाषी प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार करना इस का काम निश्चित हुआ। 'सम्मेलन' की यह संस्था महात्मा जी की छत्रच्छाया में और सेठ जमनालाल बजाज की सहायता से आगे बढ़ी। इस संस्था ने भी अपना परीक्षा-विभाग स्थापित किया। 'सम्मेलन की परीक्षाएँ अहिन्दीभाषियों के लिए कठिन हैं; इस लिए रा० भा० प्रचार समिति ने अपनी सरल परीक्षाएँ चलायीं। गुजरात, महाराष्ट्र, सिन्ध, पंजाब, सीमाप्रान्त, बंगाल, गुजरात तथा उत्कल आदि सभी प्रान्तों में समिति की परीक्षाओं का पूर्ण स्वागत हुआ। हजारों ही नहीं, लाखों छात्र प्रति वर्ष 'समिति' की 'हिन्दी-परिचय' तथा 'हिन्दी-कोविद' परीक्षाओं में बैठने लगे। 'समिति'

की अपनी सम्पत्ति लाखों की हो गयी। अपना सुविशाल भवन तथा बहुत बड़ा प्रेस आदि हो गया। लाखों रुपये का बजट बनता है।

हिन्दी की यह उन्नति देख कर कुछ साम्प्रदायिक लोग जल भी रहे थे! न मालूम क्यों, चिढ़ रहे थे! पर उन की शक्ति न थी कि इस प्रवाह को रोक सकते! तब उन्हों ने महात्मा जी से न जाने क्या-क्या कहा! उन्हों ने हिन्दी-आन्दोलन को 'साम्प्रदायिक' चीज कह कर महात्मा जी को 'सम्मेलन' से अलग हो जाने को प्रेरित किया। यह स्पष्ट हो गया था। महात्मा जी सब को साथ लेकर चलना चाहते थे। उन्हों ने हिन्दी-उर्दू का झगड़ा मिटाने के लिए हिन्दी की जगह 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन करना शुरू किया!

हिन्दी की जगह 'हिन्दुस्तानी'

'सम्मेलन' में भी गान्धी जी ने 'हिन्दी यानी हिन्दोस्तानी' का प्रवेश करा ही दिया था। इस के साथ ही उन्हों ने राष्ट्रलिपि के रूप में नागरी के साथ-साथ फारसी लिपि अपनाने की भी बात कही। महात्मा जी की वाणी जादू का काम करती थी। देश में 'हिन्दुस्तानी' भाषा बना कर उसे दोनो लिपियों में राष्ट्रभाषा का रूप देने की चर्चा चली। 'सम्मेलन' इस चर्चा से अलिप्त रह कर अपना काम कर रहा था—हिन्दी-नागरी का प्रचार। 'सम्मेलन' ने न कभी उर्दू का

विरोध किया, न 'हिन्दुस्तानी' का। महात्मा जी 'सम्मेलन' के दो बार सभापति हो चुके थे और 'सम्मेलन' की स्थायी समिति के आजीवन सदस्य थे; फिर भी 'सम्मेलन' ने उन से कोई आग्रह नहीं किया कि आप 'हिन्दुस्तानी' का नहीं, हिन्दी का ही समर्थन करें, या केवल नागरी का पक्ष लें।

जब (सन् १९३५ के) 'भारतीय राज्य-विधान' के अनुसार १९३७ में चुनाव हो कर अधिकांश प्रान्तों में पहली बार कांग्रेसी मंत्रि-मंडल बने, तब भाषा की समस्या भी सामने आयी। भाषा तो किसी राष्ट्र की राष्ट्रीयता का मुख्य आधार है न! इस समय महात्मा जी ने अपनी पूर्ण शक्ति के साथ 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन किया। प्रान्तीय सरकारों पर इस का प्रभाव पड़ा। बिहार-सरकार के शिक्षा-मंत्री थे मि० सैयद महमूद साहब, जिन की आज्ञा से सरकारी शिक्षा-विभाग ने नयी 'रीडरें' तयार कीं, बच्चों की शिक्षा के लिए। इन रीडरों की भाषा कैसी थी, अभी भी कहीं किसी पुस्तकालय में देखने को मिल जाय गी। इन रीडरों में

'बेगम सीता' और 'बादशाह दशरथ'

आदि देख कर लोगों ने बहुत बुरा माना! 'रानी' या 'महारानी' में जो भारतीय संस्कृति तथा नारी का आदर्श है, वह 'बेगम' में भी है क्या? ईरान या अरब आदि की संस्कृति का वाहक 'बेगम' शब्द है। भारतीय नारी का रहन-सहन, रूप-

व्यवहार आदि 'वेगम' शब्द से प्रकट नहीं होता ! उन रीडरों में यही सब भरा था। इस से बड़ी उत्तेजना फैली। क्या यही 'हिन्दुस्तानी' है ? राम राम !

सभी प्रान्त इस 'हिन्दुस्तानी' के प्रवाह में वहे जा रहे थे। विश्वविद्यालयों के बड़े-बड़े प्रोफेसर (डा० ताराचन्द आदि) 'हिन्दुस्तानी' के समर्थन में जी-जान से लग गये जो वाद में मौलाना अबुल कलाम आजाद की इच्छा से केन्द्रीय सरकार के शिक्षाधिकारी हुए। परन्तु उस समय हमारे युक्तप्रान्त के कांग्रेसी शिक्षा-मन्त्री—

श्री सम्पूर्णानन्द जी

डट कर मैदान में उतरे और निर्भीकता के साथ हिन्दी-नागरी का समर्थन किया। आप ने इस सम्बन्ध में ऐसा काम किया कि अपनी मिनिस्ट्री भी दाँव पर लगा दी थी ! इस से हिन्दी को बहुत बड़ा सहारा मिला।

इधर पं० अमर नाथ झा महोदय अखाड़े में उतरे और डा० ताराचन्द आदि ने जो युक्तियाँ 'हिन्दुस्तानी' के समर्थन में की थीं, उन के लत्ते उड़ा दिये। डा० झा के कारण विश्वविद्यालयों की हवा वदल गयी। वम्बई सरकार के गृह-मन्त्री श्री कन्हैया लाल माणिक लाल मुन्शी ने भी खुल कर हिन्दी-नागरी का समर्थन किया। इस तरह कुछ (मध्यम श्रेणी के) कांग्रेसी

नेताओं ने हिन्दी का पक्ष खुले रूप में ग्रहण किया। उच्च नेता सब 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में थे और साधारण लोग भी हाँ-में-हाँ मिला रहे थे। परन्तु जनता निःसन्देह हिन्दी-नागरी के पक्ष में थी, जो सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत है।

रीडरें नष्ट की गयीं

१६३८ में 'सम्मेलन' का अधिवेशन काशी में हुआ। वहाँ बिहार-सरकार की निन्दा का प्रस्ताव किसी ने रखा। प्रस्ताव पर भाषण हुए और रीडरों से पढ़-पढ़ कर अवतरण सुनाये गये। मंच पर देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद जी भी बैठे थे। सन्न रह गये! कहने लगे, मुझे मालूम न था कि मेरे प्रान्त के शिक्षा-विभाग ने ऐसी रीडर तयार करायी हैं। उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्हों ने कहा, आप निन्दा का प्रस्ताव न रखें : मैं इन रीडरों को नष्ट करा दूँगा। डा० राजेन्द्र प्रसाद की बात मान ली गयी और फिर वे रीडरें नष्ट कर दी गयीं। परन्तु फिर भी, देश भर में 'हिन्दुस्तानी' की चर्चा चल रही थी। सोचा यह गया कि 'सम्मेलन' का हिन्दी-प्रचार ही 'हिन्दुस्तानी' को नहीं बढ़ने देता। सो, उन पर कब्जा कर के सब काम ठीक किया जाय। महात्मा जी के, प्रत्येक क्षेत्र में, कुछ विश्वस्त कार्य-कर्ता काम करते थे। 'हिन्दुस्तानी' के निर्माण-प्रचार का काम उन के निर्देश से काका कालेलकर जी मुख्य रूप से कर रहे थे और धन से सेठ जमनालाल बजाज तथा प्रभाव से डा० राजेन्द्र प्रसाद सहायक थे। सेठ जी तथा डा० प्रसाद 'सम्मेलन' के सभापति-पद को अलंकृत

कर चुके थे और अन्तःकरण से हिन्दी-नागरी के समर्थक भी थे ; पर महात्मा जी की आज्ञा के आगे सिर झुका कर वह सब कर रहे थे ; पर हिन्दी-नागरी का विरोध न करते थे। 'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों ने सोचा कि 'सम्मेलन' के आगामी (१९३९ के) अबोहर-अधिवेशन पर सभापति-पद के लिए चुनाव लड़ा जाय और इस लिए डा० राजेन्द्र प्रसाद जी को खड़ा किया जाय। डा० राजेन्द्र प्रसाद जी इस से पहले एक बार 'सम्मेलन' के सभापति-पद को अलंकृत कर चुके थे और कांग्रेस के भी अध्यक्ष ('राष्ट्रपति') रह चुके थे। हिन्दी के साहित्यिकों में भी उन का सदा मान रहा है। इस लिए, खूब सोच-समझ कर डा० राजेन्द्र-प्रसाद जी का नाम सभापति-पद के लिए 'हिन्दुस्तानी'-समर्थकों की ओर से यथासमय नियमानुसार प्रस्तावित किया गया। महात्मा जी का आशीर्वाद प्राप्त था ही।

चुनाव-सङ्घर्ष

डा० राजेन्द्र प्रसाद जी इस बार भी निर्विरोध 'सम्मेलन' के सभापति निर्वाचित होते ; इस में सन्देह नहीं ; यदि वे 'हिन्दु-स्तानी' के समर्थन में प्रकट न हुए होते। यह तो उद्देश्य-मूलक सङ्घर्ष खड़ा हो गया ! इस समय तक डा० अमर नाथ झा, हिन्दी-समर्थन के कारण, जनता के विशेष श्रद्धा-भाजन हो चुके थे। फलतः हिन्दी-समर्थकों ने आप का नाम सभापति-पद के लिए प्रस्तावित कर दिया। डा० राजेन्द्र प्रसाद जी से सङ्घर्ष इस चुनाव में न हो ; ऐसा लोग चाहते थे। उन से प्रार्थना भी कुछ

लोगों ने की और कहा कि इस समय 'हिन्दुस्तानी' का प्रवल वेग 'सम्मेलन' के उद्देश्य से टकरा रहा है ; जिसे रोकने के लिए ऐसे सभापति की आवश्यकता है, जो प्रभावपूर्ण ढँग से उस का सामना कर सके। इस समय डा० झा को ही सभापति होना चाहिए। आप उन्हें निर्विरोध आगे वढ़ने दें, तो अच्छा हो। परन्तु डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने चुनाव लड़ने का ही निश्चय रखा। दूसरे लोगों ने भी सोचा कि चलो अच्छा है। इस से जन-मत मालूम हो जाय गा और जनता यदि चाहे गी तो 'सम्मेलन' जैसी सहस्रशः संस्थाओ के उद्देश्य वदल कर उन्हें चाहे जैसा वना दे गी। यदि जनता 'हिन्दुस्तानी' चाहती है तो 'सम्मेलन' की शक्ति नहीं कि हिन्दी-नागरी को राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्र-लिपि का पद मिल सके। 'सम्मेलन' विशुद्ध जनतन्त्रीय संस्था है।

अन्ततः चुनाव हुआ और डा० राजेन्द्र प्रसाद जी के मुकावले डा० अमर नाथ झा विजयी हुए। वस्तुतः डा० झा की नहीं, यह विजय हिन्दी की थी, 'हिन्दुस्तानी' पर।

अवोहर-'सम्मेलन'

सन् १९३९ का अन्त हो रहा था, जव 'सम्मेलन' का यह क्रान्तिकारी अधिवेशन पंजाव के अवोहर नगर में हुआ। श्रद्धेय टण्डन जी के साथ वावू सम्पूर्णानन्द जी भी पधारे थे और एक ही कमरे में ठहरे थे। दोनो महारथियों के विस्तर चटाई पर ही लगे थे ; अन्य प्रतिनिधियों की तरह। और कोई प्रसिद्ध

कांग्रेसी नेता अधिवेशन में नहीं सम्मिलित हुए अनुशासन का वैसा डर न हो, तो भी नजरों में चढ़ जाने का डर तो था ही। हिन्दी का समर्थन 'साम्प्रदायिकता' में आ चुका था !

इस अधिवेशन पर काका कालेलकर भी अपने तीन-चार साथी-सहयोगियों के साथ, 'सम्मेलन' को शायद अन्तिम नमस्कार करने आये थे। आप लोग टण्डन जी के सामने ही एक कमरे में ठहरे थे।

अधिवेशन की कार्य-शृङ्खला में सब से महत्त्वपूर्ण वह प्रस्ताव था, जिस में राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्वरूप की व्याख्या करते हुए सम्मेलन की नीति स्पष्ट की गयी थी। इस प्रस्ताव पर बोलते हुए काका कालेलकर ने कहा—"हम राष्ट्र-हित की दृष्टि से राष्ट्र-भाषा की सेवा करना चाहते हैं और कर रहे हैं। परन्तु 'हिन्दी' नाम से काम करने में हमारे सामने रुकावटें आती हैं। इस लिए 'हिन्दी' नाम से हम काम नहीं कर सकते। आप राष्ट्र-भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' रखें, तो हमें काम करने में सुविधा हो गी।"

इस के उत्तर में कहा गया—"नाम में नहीं, स्वरूप में अन्तर है। इसी लिए हिन्दी के स्वरूप की अधिकृत घोषणा कर दी गयी है। नाम में तो कुछ रखा नहीं है। 'हिन्दी' नाम भी तो हमारी भाषा का दूसरे लोगों का ही रखा हुआ है। हम ने वह

नाम ग्रहण कर लिया। हिन्दी का स्वरूप अब निश्चित हो चुका है। नाम भी अब प्रिय लगता है। 'हिन्दुस्तानी' की अपेक्षा 'हिन्दी' नाम छोटा तथा मधुर भी है और इस नाम में किसी तरह की कोई साम्प्रदायिक गन्ध भी नहीं है। इस लिए राष्ट्रभाषा का नाम तथा स्वरूप बदलने से काम बिगड़ेगा, बनेगा नहीं। परन्तु जो लोग 'हिन्दुस्तानी' नाम रख रहे हैं और उस नाम से काम करने में सुविधा समझते हैं, उन से हमारा कोई झगड़ा नहीं है। हम न 'हिन्दुस्तानी' का विरोध करते हैं, न उर्दू का। हम तो हिन्दी-नागरी का प्रचार करते हैं। आप दोनो लिपियों का प्रचार चाहते हैं; तो हम एक लिपि (नागरी) का प्रचार कर के आप क आधे बोझ को कुछ हलका ही करते हैं। 'सम्मेलन' के जन्मकाल से जो इस का उद्देश्य चला आ रहा है, उसी पर यह अडिग रहेगा। हम लोग सम्मेलन के उस उद्देश्य को विशुद्ध राष्ट्रीयता के रूप में ग्रहण करते हैं।"

निःसन्देह, अबोहर-सम्मेलन पर जनता ने हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न पर अपना निर्णय दे दिया था। परन्तु 'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों ने जन-मत के आगे सिर न झुका कर अपने पक्ष का समर्थन प्रकारान्तर से शुरू किया। 'सम्मेलन' को साम्प्रदायिक संस्था कह कर अवज्ञा प्रकट की जाने लगी।

'हिन्दुस्तानी' के समर्थक लगभग पांच वर्षों तक सम्मेलन पर अधिकार करने की सोचते रहे और उद्योग करते रहे; पर अबोहर-सम्मेलन से वे हताश हो गये। इसी समय 'सम्मेलन' के

एक सदस्य, ने इन पंक्तियों के लेखक ने, सुझाया कि उर्दू की एक संस्था है—अंजुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू और हिन्दी की भी एक संस्था है—हिन्दीसाहित्य-सम्मेलन। दोनो का अपना-अपना काम है। 'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों को चाहिए कि अपना स्वतंत्र तीसरा प्लेटफार्म बनाए, अलग संस्था खड़ी करें। या फिर उन्हें 'अंजुमन-ए-तरक्की—ए-उर्दू' में घुस कर उसे ही 'हिन्दुस्तानी' के प्रचार का केन्द्र बनाना चाहिए; क्योंकि 'सम्मेलन में तो शक्ति-परीक्षा हो चुकी है।"

उस 'अंजुमन' में जा कर उस के कायकर्ताओं से नागरी लिपि का प्रचार कराना टेढ़ी खीर थी! फलतः 'हिन्दुस्तानी-प्रचारसभा' नाम से एक नयी संस्था का संगठन किया गया। काका कालेलकर तथा श्रीमन्नारायण अग्रवाल आदि इस के प्रमुख कार्य-कर्ता चुने गये। वर्धा में कार्यालय रहा। इस नयी संस्था के द्वारा प्रचार प्रारम्भ हुआ। 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' सेठ जमना लाल बजाज से प्रभावित थी। प्रारम्भ में सेठ जी के धन से ही उस की नीवँ लगी थी। सो, इस संस्था ने झट अपना

नाम बदल दिया!

'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' में हिन्दी की जगह 'हिन्दुस्तानी' कर दिया गया। अब यह संस्था दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' बन गयी। 'सम्मेलन' ने इसे स्वतंत्र कर

दिया था ; इस लिए नाम आदि बदलने में यह स्वतंत्र थी ही। इस सभा का जो प्रचार-पत्र 'दक्षिण भारत' के नाम से निकलता था, उस का नाम भी बदल कर 'दक्खिनी हिन्द' कर दिया गया। परीक्षाओं में नागरी के साथ-साथ फारसी लिपि की जानकारी भी अनिवार्य कर दी गयी, जिस से परीक्षार्थियों की संख्या इतनी घट गयी कि 'सभा' के कोप पर आँच आयी ! यदि कोई फारसी लिपि भी ले, तो उसके प्रमाण-पत्र में इसका निर्देश कर देना तै हुआ। अर्थात् फारसी लिपि की जानकारी ऐच्छिक कर दी गयी ! परन्तु 'हिन्दुस्तानी' भाषा जो 'सभा' द्वारा गढ़ी गयी, उस से दक्षिण भारत में बहुत असन्तोष बढ़ा !

'काफी' का अर्थ

कुछ दिन बाद महात्मा जी ने सेठ जमना लाल बजाज को आदेश दिया कि वे दक्षिण भारत का दौरा कर के चरखा-संघ तथा 'हिन्दुस्तानी' की प्रगति देखें और उस की रिपोर्ट दें। सेठ जी दक्षिण भारत पहुंचे। वहाँ 'सलेम' नगर गये, जो चक्रवर्ती श्री राजगोपालाचार्य की जन्मभूमि है। सलेम में सेठ जी का भाषण सुनने के लिए एक सार्वजनिक सभा हुई। श्री राजगोपालाचार्य जी उस सभा के अध्यक्ष थे। सेठ जी अंग्रेजी में भाषण कर नहीं सकते थे और 'हिन्दुस्तानी' सब लोग समझ न सकते थे। परन्तु भाषण 'हिन्दुस्तानी' में ही होना था। तब एक दुभाषिया की जरूरत हुई, जो सेठ जी का भाषण साथ के साथ वहाँ की स्थानीय भाषा में अनूदित करता जाय। इस के लिए एक मुसल-

मान सज्जन नियुक्त हुए, जा वहीं किसी पत्र के सम्पादक थे, हिन्दुस्तानी-समझते थे। सेठ जी ने अपने भाषण में एक जगह कहा—'हिन्दुस्तान में कपास काफी पैदा होती है।' इस का अनुवाद दुभाषिया महोदय ने स्थानीय भाषा में जो किया, उस का आशय यह था—'भारत में कपास तथा काफी पैदा होती है।' उस सभा में कुछ ऐसे तरुण भी बैठे थे, जिन्हों ने हिन्दी सीख ली थी और द० भा० हि० प्र० सभा की परीक्षाएँ भी पास कर चुके थे। सेठ जी के उस वाक्य का वैसा अनुवाद सुन कर वे हँस पड़े! तब दुभाषिया महोदय कुछ सकपकाये और सभापति की ओर जिज्ञासा की दृष्टि से देखने लगे। सभापति महोदय ने उन्हें समझाया कि 'काफी' का अनुवाद आप गलत कर गये हैं; काफी का मतलब यहाँ है 'पर्य्याप्त'। इस पर वे दुभाषिया महोदय बहुत बिगड़े और बोले कि मुझ से ऐसी 'हिन्दुस्तानी' का अनुवाद न हो गा, जिस में सीधे-सादे 'पर्य्याप्त' को 'काफी' कहते हैं। वे चिढ़ कर दूर जा बैठे। तब एक छात्र ने दुभाषिये का काम किया!

माालूम नहीं, सेठ जी ने दक्षिण भारत में 'हिन्दुस्तानी' की प्रगति तथा स्थिति की क्या रिपोर्ट दी। परन्तु हमें तो यह घटना सब कुछ बताती है।

इस तरह बीसवीं सदी का यह चतुर्थ दशक बीत रहा था, तब तक राजनीतिक संघर्ष का तीसरा और अन्तिम दौर आ

पहुंचा ! इस दशक की चर्चा में एक बड़े मार्के की बात छूटी जा रही है, जो कि इस दशक में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह है—

असेम्बली में भाषा-सम्बन्धी निर्णय

सन् १९३७ में चुनाव होते ही जब नयी असेम्बलियों का संगठन हुआ, तो सभी प्रान्तों में कांग्रेस-नेता ही अध्यक्ष (स्पीकर) चुने गये। युक्तप्रान्तीय असेम्बली के अध्यक्ष माननीय श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन सर्वसम्मति से चुने गये। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सभी असेम्बलियों में सम्पूर्ण कार्रवाई तो अंग्रेजी में होती ही थी, सदस्यों के भाषण आदि भी अंग्रेजी में ही होते थे। असेम्बली-नियमों में एक नियम यह जरूर था कि अंग्रेजी न जानने वाले किसी सदस्य को अध्यक्ष (स्पीकर) महोदय किसी दूसरी भाषा में बोलने की अनुमति दे सकते हैं। परन्तु इस नियम का कभी कहीं उपयोग न होता था; क्योंकि असेम्बली का कोई सदस्य अंग्रेजी न जानने के कारण अपनी भाषा में बोले गा क्या ? सब कुछ तो वहाँ अंग्रेजी में होता था, जो उस की समझ में आने का नहीं। तब किस विषय पर क्या कहने के लिए वह स्पीकर से भाषा-सम्बन्धी प्रार्थना करे गा ? श्रद्धेय टंडन जी की प्रवृत्ति से सब परिचित हैं। युक्तप्रान्तीय असेम्बली के कुछ सदस्य हिन्दी में ही भाषण करने लगे। इस पर अंग्रेजीदाँ लोगों में खलभली मची। अखबारों में चर्चा हुई कि असेम्बली-नियमों की अवहेलना हो रही है। अंग्रेज

गवर्नर था, ब्रिटिश राज्य था ! टंडन जी ने असेम्बली-नियम देखे और उन्हें गुंजाइश दिखायी दी। उन्हों ने निर्णय दे दिया, हिन्दी-उर्दू में बोलने के लिए। एक क्रान्ति थी, उस समय।

ता० २८ सितम्बर सन् १९३७ को युक्तप्रान्तीय असेम्बली में प्रश्नोत्तर के बाद असेम्बली के स्पीकर बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन ने असेम्बली के १९ वें नियम के स्पष्टीकरण का प्रश्न उठाया। आपने कहा कि "मैं कल कह चुका हूं कि मुझे असेम्बली के १३३ सदस्यों से इस बात की मांग मिली है कि सभी कागजात अंगरेजी के साथ हिन्दी और उर्दू में भी मिला करें, ताकि सभी सदस्य पूरी तरह से असेम्बली की कार्यवाही में भाग ले सकें। साथ ही मुझे असेम्बली के ३३ सदस्यों का एक इस आशय का पत्र मिला है कि वे लोग अंगरेजी काफी नहीं जानते और मुझ से अनुरोध किया गया है कि प्रान्तीय असेम्बली की कार्यवाही यह लोग भी समझ सकें, इसका प्रबन्ध किया जाय।"

दोनों पत्र पढ़ने के बाद स्पीकर ने कहा कि कल मैं इस प्रान्त के दो अंग्रेजी दैनिकों का भी उल्लेख कर चुका हूँ। इन्हों ने कहा है कि जो सदस्य अंग्रेजी जानते हुए भी हिन्दी या उर्दू में भाषण करते हैं, उनका यह कार्य कहाँ तक उचित है ! स्पीकर ने कहा कि इन समाचार पत्रों ने शिष्टाचार को त्याग कर ऐसी भाषा का प्रयोग किया है, जो कि उन्हें न करना चाहिए था। उन्होंने कहा है कि "असेम्बली के नियमों का उल्लंघन किया गया है !"

यह प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और मैं इस सम्बन्ध में आप की राय जानना चाहता हूँ। मैं पहले भी एक बार कह चुका हूँ कि असेम्बली अपने नियम बनाने के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। इस सम्बन्ध में निर्णय देते समय स्पीकर केवल हाउस के मत को ही प्रगट करता है। स्पीकर ने कहा कि इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं उठ सकता कि मेरे निर्णयों को स्वीकार कर के हाउस उन्हें अपना निर्णय बना लेता है। और उन के लिए अन्ततः अपने को जिम्मेदार बना लेता है। मेरे ख्याल से स्पीकर और हाउस के विषय में यही दृष्टिकोण उत्तम है और इस ख्याल से मेरी राय में स्पीकर हाउस के मत का पता लगाते हुए अपना निर्णय भी दे सकता है। हम लोगों को इस सम्बन्ध में निर्णय करते वक्त गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट की ८४ (३) धारा के १९ वें नियम को आधार बनाना होगा। वह नियम इस प्रकार है—

असेम्बली की कार्यवाही अंग्रेजी में होगी, किन्तु यदि कोई सदस्य अंगरेजी भाषा को अच्छी तरह न जानता होगा तो वह प्रान्त की किसी भी भाषा में असेम्बली में भाषण कर सकेगा। किन्तु यदि किसी सदस्य के सम्बन्ध में यह जानकारी प्राप्त हो गई हो कि वह किसी विशेष भाषा में बोल सकता है, तो स्पीकर उस सदस्य से उस भाषा में बोलने के लिए कह सकता है।

स्पष्टीकरण—प्रान्त की स्वीकृत भाषा का मतलब हिन्दी या उर्दू होगा।

स्पीकर ने असेम्बली के सदस्यों से अनुरोध किया कि इस विषय में निर्णय सुनते समय उन्हें इस नियम का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जहां तक इस नियम का मतलब मेरी समझ में आता है इसके स्पष्टीकरण की बात उन सदस्यों के सम्बन्ध में भी, जो कि अंग्रेजी जानते हैं, स्पीकर पर छोड़ दी गई है। इस नियम का यह मतलब लगाया जाता है कि स्पीकर प्रत्येक सदस्य को, यदि वह इसकी आवश्यकता समझे, अंगरेजी के अतिरिक्त किसी भाषा में बोलने की अनुमति दे सकता है। इस सम्बन्ध में पृथक् नियम रखने ही से यह स्पष्ट है कि स्पीकर से जब पूछा जाय तभी नहीं, किन्तु जब उसके ख्याल में इसकी आवश्यकता हो, तब स्पीकर खुद भी किसी सदस्य से हिन्दुस्तानी में बोलने के लिए कह सकता है; हाउस के उन सदस्यों से भी, जो कि अंग्रेजी अच्छी तरह जानते हैं। इस नियम के सम्बन्ध में मेरा स्पष्टीकरण यह है।

"मुझ से यह कहा गया है कि यह नियम शायद उस अवस्था के लिए हो, जब कि कोई सदस्य हिन्दी, उर्दू या अंग्रेजी इन में से किसी भी भाषा को न जानता हो। इस हालत में स्पीकर उक्त सदस्य को इन तीनों के अलावा किसी अन्य भाषा में भी बोलने की अनुमति दे सकता है।" स्पीकर ने कहा कि मैं ने इस सम्बन्ध में भी विचार लिया है। आप ने कहा कि इस नियम के निर्माताओं की मंशा क्या थी, यह मैं नहीं कह सकता। किन्तु यह

अवश्य कह सकता हूं कि यदि उन की मंशा उस अर्थ से न थी, जो कि मैं लगा रहा हूं, तो इस की भाषा में अवश्य कुछ सुधार की जरूरत है। इस हालत में "किसी भाषा" की जगह उन्हें "किसी अन्य भाषा" का प्रयोग करना चाहिए था। चूँकि ऐसा नहीं है; इस लिए इस का मैं यह मतलब लगाता हूं कि स्पीकर को अंग्रेजी जानने वाले लोगों से भी हिन्दुस्तानी में भाषण करने का अनुरोध करने का हक है। आप ने कहा कि किसी सदस्य द्वारा बंगला, मराठी या गुजराती में बोलने की अनुमति मांगना एक कल्पना मात्र है और नियम बनाने वालों का वह मतलब नहीं हो सकता। इसलिए इन सब बातों का ख्याल करते हुए यह कहा जा सकता है कि नियम का जो अर्थ लगाया गया है, ठीक ही है।

स्पीकर ने आगे कहा कि "असेम्बली में ऐसे कितने ही आदमी हैं जो कि अंग्रेजी अच्छी तरह नहीं जानते हैं। उनके लिए ऐसी आवश्यकता पड़ सकती है, जब कि कभी वे अंग्रेजी में बोलना चाहेंगे और कभी हिन्दी में। जहाँ तक मेरा ख्याल है, इस नियम का यही अर्थ लगाया जा सकता है। प्रश्न यह है कि इस हाउस के किसी सदस्य को केवल बोलने ही का अधिकार है? समझने का नहीं? यह स्पष्ट है कि यदि किसी सदस्य को, जो भाषा भी वह चाहे, बोलने का अधिकार है, तो यह भी स्पष्ट है कि जो भाषा वह समझ सके, उसी में हाउस की कार्यवाही भी हो। हमें इस बात की तरफ ध्यान अवश्य देना चाहिए। मे ... ल

में स्पीकर केवल किसी सदस्य को हिन्दुस्तानी में बोलने की अनुमति ही नहीं दे सकता, बल्कि वह आवश्यक समझे तो उस भाषा में उस से बोलने के लिए भी कह सकता है। यदि स्पीकर के ख्याल में किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर विवाद चल रहा है और यदि अंग्रेजी न समझने वाले काफी अधिक सदस्य किसी एक सदस्य (उदाहरणार्थ प्रधान मन्त्री) का मतलब समझना चाहते हों तो स्पीकर उन से हिन्दुस्तानी में बोलने के लिए अनुरोध कर सकता है। 'हाउस आफ कामन्स' में इस बात को किसी तरह सहन नहीं किया जा सकता कि कोई सदस्य जिसे फ्रेंच या जर्मन भाषाओं का अधिक ज्ञान हो, उन्हीं में भाषण करें। स्वतन्त्र देशों में इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि किसी प्रतिनिधि-सभा की कार्यवाही विदेशी भाषा के द्वारा हो। इस देश की राजनीतिक अवस्था ऐसी अवश्य है, जिस में कि अंग्रेजी का प्रयोग आवश्यक समझा जाता हो; किन्तु इस अस्वाभाविक अवस्था के समर्थन के लिए नियमों का गलत अर्थ लगाने का प्रयत्न किया जाय, तो इस से बड़ी अराजनीतिज्ञता की बात और कोई नहीं हो सकती। भाषा के प्रश्न पर मैं अपने विचारों को इस हाउस पर कभी लादना नहीं चाहता। इस हाउस के स्पीकर की हैसियत से मुझे अपने लिए बनाए नियमों का ही पालन करना चाहिए। किन्तु साथ ही उन नियमों का मतलब निकालते समय मेरे लिए उस अर्थ को स्वीकार करना स्वाभाविक है, जो कि लोकतंत्रवाद और असेम्बली के अधिकारों को विस्तृत करने के अनुकूल हों (कांग्रेसी सदस्यों की हर्षध्वनि)।

मैं उस अर्थ को कभी नहीं मान सकता, जिस में कि कल्पना से विचित्र परिस्थिति को मान कर असेम्बली के अधिकारों को सीमित करने का विचार किया गया है।"

स्पीकर ने इस के बाद केंद्रीय असेम्बली के नियमों का उल्लेख करते हुए बतलाया कि वहाँ तो यह कहा गया है कि साधारणतः कार्यवाही अंग्रेजी ही में होनी चाहिए; किन्तु प्रेसीडेन्ट वहाँ भी अंग्रेजी न जानने वाले सदस्य को देशी भाषा में बोलने की अनु-मति प्रदान कर सकता है। यह नियम बहुत ही स्पष्ट है। यदि इस असेम्बली में ऐसा ही नियम रखने की इच्छा सरकार की थी, तो यह भी आसानी से बनाया जा सकता था।

स्पीकर ने कहा कि नियम बनाने वालों की यदि यह मंशा होती कि केवल वे ही सदस्य उर्दू और हिन्दी में बोल सकेंगे, जो कि अंग्रेजी न जानते हों, तो इस के स्पष्टीकरण में कुछ भी कठि नाई न थी। नियम बनाने वालों के आगे केन्द्रीय असेम्बली व नियम मौजूद था और वे चाहते तो विधान में वैसा ही निय बना भी सकते थे। परन्तु एक नये किस्म की धारा ही उस जोड़ी गई। क्या ऐसा करने में नियम बनाने वालों का मतल कुछ भी न था? जिस नियम पर हम विचार कर रहे हैं, इ भारत-सरकार ने कुछ दिन पहले बनाया था। यदि निय बनाने वालों की यह मंशा होती कि अंग्रेजी जानने वाले ल हिन्दुस्तानी में न बोलने पावेंगे, तो केन्द्रीय असेम्बली का

नियम क्यों नहीं रखा गया ! इस लिए मेरा मत इस विषय पर स्पष्ट है कि नियम बनाने वालों के मस्तिष्क में वर्तमान स्थिति की आवश्यकता वर्तमान थी और उसी को ध्यान में रख कर यह नियम बनाया गया था।

स्पीकर ने अन्त में कहा कि जो सदस्य अंग्रेजी जानते हैं, उन्हें भी हिन्दुस्तानी में बोलने की अनुमति देते वक्त मेरे मस्तिष्क में जो विचार उठे हैं, उन्हें मैं ने आप के सामने रख दिया है। परन्तु मैंने अभी तक किसी सदस्य से किसी विशेष भाषा में बोलने के लिए कहा नहीं है। भाषा चुनने की बात मैं ने सदा सदस्यों पर ही छोड़ दी है। मैं ने केवल यही किया है कि माननीय सदस्यों को, यदि उन्हों ने हिन्दुस्तानी में बोलने की इच्छा प्रकट की है, तो रोका नहीं है। मेरा ख्याल है कि नियमों के अन्दर ऐसी अनुमति देना मेरे लिए ठीक ही था और ऐसा कर के मैं ने कोई ग़ैरवाजिब बात नहीं की है। मैं तो यह समझता हूं कि हाउस को अपने नियम बनाने का पूर्ण अधिकार है। प्रश्न यही था कि हाउस भी नियमों का वही मतलब लगाने को तैयार है या नहीं, जो कि मैं ने लगाया है और जो लोग अंग्रेजी जानते हैं, उन्हें वह भी हिन्दुस्तानी में बोलने की अनुमति देने को तैयार है या नहीं। अब इस सम्बन्ध में हाउस ही अपना अन्तिम निर्णय दे सकता है, जिस के अनुसार कि भविष्य में कार्य होता रहे। स्पीकर ने कहा कि यही बात उन पत्रों के सम्बन्ध में मैं एसेम्बली से कहूं गा जो कि मुझे प्राप्त हुए हैं। इस

प्रश्न पर एक बार ज़ब मुझे हाउस का मत मालूम हो जाय, तब मैं हाउस के सामने आगे की कठिनाइयाँ पेश करूँगा जो कि मेरे आगे हुई हैं।"

हम माननीय टंडन जी के विचारों को उन्हीं के शब्दों में नीचे उद्धृत करते हैं:—

"As I told the House yesterday, I shall now take up the question of interpretation of Rule 19 of the Assembly Rules. I have received, as I announced yesterday, a requisition signed by 133 members of the Assembly, requesting me to arrange that papers supplied to members of this Assembly in English should be supplied in Hindi and Urdu also to enable them to take part in the discussions of this Assembly. I have also, as I indicated, received another letter signed by 43 members of this House in which they say that they are not acquainted sufficiently with the English language and in which they request me to make arrangements to enable them to follow the discussions of this House.

"I also drew your attention to the comments of two English dailies of these provinces on the practice which has been followed in this House, since its inception, of permitting members to speak in Hindustani if they wish to do so. These newspapers have questioned the propriety of those members being allowed to address the Assembly in Hindustani who are well conversant with the English language and they have in language, which to my mind, is utterly lacking in the courtesy which is expected from responsible journalists when speaking of this Assembly and

its proceedings, expressed the view that we have disregarded the law and the rules. The issue raised is an important one, and I want the House itself to advise me in this matter.

"As I said on a previous occasion, the House itself is the master of its procedure and its rules of business. The Speaker in giving a ruling on any subject is only the mouth-piece of the House. In deciding points of order as they arise his powers are undoubtedly large, but I want the House to remember that by acquiescing in the rulings of the Speaker it accepts them as its own, and the ultimate responsibility for all rules of business and procedure always remains with the House.

"This, to my mind, is the relation between the Speaker and the House, and this obviously necessitates that the Speaker must be able to sense the general opinion of the House in all matters of importance, particularly in matters relating to constitutional practice, a decision on which is likely to be of more than ephemeral interest.

"For a decision of the issue that is before us we have to rely on Rule 19 of the rules which have been made for us under section 84 (3) of the Government of India act, 1935. The rule stands thus.

> The business of the assembly shall be transacted in the English language, but any member who is not acquainted or sufficiently acquainted with the English language may address the assembly in any recognised language of the province.
>
> Provided that the Speaker may call any member to speak in any language in which he is known to be proficient.

Explanation. For the purpose of this rule; "recog. nised language" shall mean either of the following languages, namely, Hindi or Urdu.

"I would ask the Hon' ble members of this House to keep this particular rule before them, while I am trying to develop my view of the matter. As I interpret this rule, it is sufficiently comprehensive to enable the Speaker, when the situation so requires, to permit the use of Hindi, or Urdu by any member of the House including those who are conversant with the English language.

"The separate proviso indicates that the Speaker may not only give this permission when asked for, but that it may as a matter of fact become his duty to call upon any member to speak in Hindi or Urdu *if* the situation so requires. That is my interpretation of this proviso.

"It has been suggested to me that this proviso might have been intended for those cases where the member concerned knows neither English nor Hindi nor Urdu and that in such cases where the member knows none of these three languages, discretin is given to the Speaker to permit the member to speak in a language other than these three. It has been suggested to me that this proviso was probably intended for this purpose. I have thought over this matrer. It is not possible for me to gauge the intentions of the authors of this proviso, but if that had been their intention, I can only say that the language in which the authors choose to express their purpose should have been very different. Instead of the expression 'any language' they should have said 'any other language'. That would naturally have suggested itself to the learned men who were authors of this proviso. If they intended that

the language in which I could permit any member to speak under this proviso should be a language other than any of the three languages mentioned in the rule, then I submit, the word 'other' should have occurred to the authors very naturally. But as the language stands it naturally leads me to conclude that it was not the intention of the authors by adding this proviso to the rule that the Speaker should not be able to permit a speech in Hindi or Urdu by any member knowing Engish.

Word "Call"

"And then there is the word 'call'. The Speaker may call any member to speak in any language. If the idea was that the Speaker could in a case of that kind, that is to say, in a case in which the member knew neither of these three languages, permit the use of any other language, then I say the word 'call' is very out of place. The word used should have been 'permit'. What is the sense of the word 'call' here ? 'Call' does indicate that the Speaker has to exercise an option and an authority in favour of a certain language being used; and it seems to me that if the proviso was intended merely to provide for those unthinkable and imaginary cases in which a member might desire to speak here in Bengali, Marathi or Pushto, then a very different language should have been chosen by the authors of this proviso. Having regard to all these considerations, I think that the proviso wisely meets all those situations which may be created by the possibility—which you find evidenced in this Assembly today—that a large number of representatives may not know English.

"A member who knows English but wishes to speak in Hindustani also in order tha he may make himself under-

stood by those who do not know English is enabled by this proviso to do so, if the Speaker permits him to speak in Hindustani. That to me is the idea underlying this proviso, namely, that a situation may arise when although a member knows English, yet he finds it necessary to address the House in Hindustani. It seems to me that this proviso meets that situation very clearly.

> Provided that the Speaker may call any member to speak in any language in which he is known to be proficient.

"It is not, 'any language other than English or Hindustani'. It is 'any language'. And why ? As I said, because the necessity of a particular situation may require that a member may address in English and also occasionlly in Hindustani.

"Now looking at this matter from another aspect, it seems to me that that is the only reasonable interpretation of this proviso. Has a member of this house a right to speak only ? Has he no right to understand ? Obviously every member of this House, if he has a right to speak in a language which he knows, has also a right to be spoken to in a language which he can understand. That is an aspect of the matter which should not be lost sight of. It seems to me that the proviso does take that aspect of the matter into account, and it gives discretion to the speaker not only to permit but to call members to speak, if he thinks that it is necessary for them to speak in Hindustani. If the speaker feels that an important question for instance is before the House and that a large number of members who do not know English, desire to understand the view point of a particular member, addressing this house, say

the Prime Minister, the Speaker can call the Prime Minister to speak in Hindustani so that the Government's point of view may be understood by the house as a whole. I think that is the intention of the proviso.

"It would be unthinkable for the House of commons to be addressed in French or German by a member who is proficient in one of those languages. It is also unthinkable that members of any representative Assembly in the world should carry on their deliberations in a foreign language Of course, I am referring to free countries.

"The political condition of our country undoubtedly necessitates the use of English; but when an attempt is made to interpret rules in support of that unnatural position, I say that that is the limit of want of statesmanship.

Interpretation consistent with Damocracy.

"I am not importing my own views on the language questian in this matter. As Speaker of this House, I have to interpret and follow the rules made for me, but in interpreting, I should naturally adopt that interpretation which is consistent with the spirit of Democracy and with the growth and expansion of the powers of this Assembly and not an interpretation which, by importing imaginary words in the rule, would lead to the curtailment and narrowing down of those powers.

"The Central Assembly has also a rule similar to the one we are considering. That rule runs thus.

The business of the Assembly shall be transacted in English provided that the president may permit any member, unacquainted with English, to address the Assembly in a vernacular language.

"This is a very simple rule and is easily intelligible. Now if it was intended that exactly this procedure should be imported into our Assembly, it was very easy for the Government to adopt this rule. Probably the only change that they would have had to make would' have been to put in the words "in Urdu or Hindi language" in place of "in a vernacular language". Then this would read :—

> The business of the Assembly shall be transacted in English provided that the president (might be the Speaker here) may permit any member unacquainted with English to address the Assembly in Urdu or Hindi language.

"Now I say nothing would have been clearer than that. If it had been the intention of the author of this rule to lay down that only those members should be allowed to speak in Urdu and Hindi who did not know English this should have been the clearest thing possible, and this rule was before the authors at the time when they made the rule wich is under our consideration. And yet we find that that rule was not adopted and a proviso of a different kind was added in our rules. Is all that meaningless ? The rule we are considering was made for us by the Government of India some time ago. The Central Assembly rule also was before them. If the intention had been that members of this Assembly who were conversant with English, should not be permitted to speak in Urdu or Hindi, then I say, that that rule could have been easily adopted. I am, therefore, very clear' in my mind that the framers of this rule had the possible necessi-

ty of this Assembly under their consideration when they added this proviso.

"I have placed before you all those considerations which have weighed with me in permitting the use of Hindustani even by those who know English, by ministers and by Opposition Leaders, who have sufficient footing in the English language, to be able to speak English fluently.

"But I have never yet asked any .member to speak in any particular language. I have always given the choice to the member himself. But what I have not done is that I have not prevented such members from speaking in Hindustani, whenever they have so desired. I think that this rule has permitted me to do so and all my action has been within this rule. That is what I have to place before the House in regard to the procedure wich I have followed. But I leave it to the House to decide, for , as I have said, I regard the House as master of its procedure. The House has now to lay down for me the procedure which I have to follow. The question that I have to place before you is whether the House interprets this rule in the sense in which I have interpreted it. The plain question is whether under the rule as it stands a member conversant with English can or cannot speak in Hindustani. I come to this House as my final authority in the matter and I ask you to give your decision for my future guidance. Your decision in this matter will also guide me to a large extent in dealing with the letters which I have referred to. These letters raise still larger issues. Once I have a decision of this House

on this point, I shall be able to deal with these letters and then to place befor this House the difficulties that I envisage in regard to issues wich arise out of the requisitions made in these letters. For the present I want a decision from the House in regard to the interpretation of this Rule."

असेम्बली ने अपने स्पीकर की व्याख्या पर मुहर लगा दी और उन के निर्णय को उल्लास के साथ स्वीकार किया। असेम्बली में अधिकांश भाषण, मंत्रियों के भी भाषण, हिन्दी-उर्दू में होने लगे। जाने पड़ने लगा कि यह भारत की असेम्बली है अन्यत्र वही अंग्रेजी चलती रही।

केन्द्रीय असेम्बली में तो आज भी सब काम अंग्रेजी में ही हो रहा है। अभी इसी सप्ताह (१९४९ के अप्रैल के मध्य में) दिल्ली के समाचार-पत्रों में छपा है कि "अंग्रेजी भाषा के व्यवहार के कारण अधिकांश सदस्य असेम्बली में भाग नहीं ले पाते और बहुतों की समझ में कुछ आता ही नहीं कि हो क्या रहा है।"

इस तरह टण्डन जी अंग्रेजी की जगह हिन्दी-उर्दू और इन दोनो में से हिन्दी का पक्ष लेते रहे। १९३७ में अंग्रेजी की जगह हिन्दी-उर्दू लाये और १९४८ में विशुद्ध हिन्दी। निःसन्देह वे अंग्रेजी की अपेक्षा उर्दू को (बल्कि फारसी को भी) अधिक पसन्द करते रहे हैं।

[१६४१-४५]

राजनैतिक सङ्घर्ष

सन् १६३६ से ही अंग्रेजी राज्य से जो हमारा संघर्ष शुरू हो गया था, बढ़ता-बढ़ता १६४२ में आ कर युद्ध के रूप में परिणत हो गया। राष्ट्रीय महायुद्ध के अमर सेनानी, हमारे अप्रतिम नेता, श्री सुभाष चन्द्र बोस देश से बाहर जा कर मोर्चाबन्दी शुरू कर रहे थे। बम्बई में (अगस्त १६४२ में) महात्मा गान्धी के सहित कांग्रेस-कार्य-समिति के सब सदस्य गिरफ्तार करके जेल में डाल दिये गये और साथ ही देश भर में नेता तथा कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिए गये! एक विचित्र सन्नाटा था! उग्रदल के लोगों ने वह युद्ध शुरू कर दिया, जिसे 'सरकार' तथा कांग्रेसी हलके भी बहुत दिन तक 'गुण्डागर्दी' कह कर उपेक्षित करते रहे; पर सन् १६४५ में पं० जवाहर लाल नेहरू जेल से बाहर निकले, तो निकलते ही, उसी दिन, एक सभा में, अपने प्रथम भाषण में ही उन्हों ने वैसी 'गुण्डागर्दी' को एक 'महान् क्रान्ति' कहा और कहा कि "वह सब कर के जिन्हों ने राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की रक्षा उस समय की, उन के चरणों में मेरा सिर झुकता है"। तब सभी कांग्रेसी उस 'तोड़-फोड़' को 'क्रान्ति' कह कर सम्मान प्रकट करने लगे! खैर, ये सब राजनीति की बातें हैं; यहां तो प्रसंग-वश चर्चा कर दी गयी!

सो, १९४२ में टण्डन जी भी जेल चले गये ! सम्मेलन का काम उन की अनुपस्थिति में डा० अमर नाथ झा महोदय ने बड़ी ही निष्ठा तथा तत्परता के साथ अपने सिर लिया। श्रद्धेय टण्डन जी को सम्मेलन की प्रगति के समाचार बराबर मिलते रहते थे।

सन् १९०१ से १९१० तक जो राष्ट्रभाषा की प्रगति हुई थी, उस में अत्यधिक प्रेरणा उस राजनैतिक आन्दोलन से मिली थी, जिस के सूत्रधार राष्ट्रपितामह लोकमान्य तिलक थे और जिसकी भुजाएँ थीं बंगाल तथा पंजाब। १९१० से १९२० तक फिर हिन्दी की प्रगति बड़े वेग से हुई, जो उसी जागरण का फल थी। १९२१ से '२३-'२४ तक महात्मा गान्धी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन चला। इस से तो राष्ट्रभाषा की नींव पाताल तक चली गयी और उस नींव पर भव्य प्रासाद की आधी इमारत भी खड़ी हो गयी। फिर १९२४ से १९३० तक राष्ट्रभाषा का प्रसार विद्युत्-वेग से देश में हुआ। देखने वाले दंग रह गये। १९३१-३४ के राष्ट्रीय आन्दोलन ने फिर एक वार राष्ट्रभाषा की भावना में शक्ति भर दी। नेता और कार्यकर्ता जेलों में चले जाते रहे और जनता बराबर काम में जुटी रहती रही। परन्तु, इस समय तक कुछ साम्प्रदायिक लोग घबरा उठे थे और दूसरा सहारा न देख हिन्दी-पक्ष को 'साम्प्रदायिक' कह कर बड़े नेताओं से प्रार्थना की कि वे उस से अलग हो जायँ। फलतः 'हिन्दुस्तानी' का नाम ले कर हिन्दी का विरोध किया जाने लगा। परन्तु, १९४२ से ४४

तक जो राष्ट्रीय संघर्ष रहा, उस से राष्ट्रभाषा का प्रवाह अत्यधिक वेगवान् हो गया। अब तक भारत का कोई भी प्रदेश राष्ट्रभाषा से शून्य न रहा था। सिन्ध, गुजरात, मद्रास, बंगाल, उत्कल आदि अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में लाखों छात्र प्रतिवर्ष हिन्दी की विविध परीक्षाओं में बैठ रहे थे और राष्ट्रीय गर्व का अनुभव करते थे। इस तरह राष्ट्रभाषा की समस्या लगभग पूरी तरह से जनता ने हल कर ली थी। अब तो, देश के स्वतन्त्र होते ही, उसे 'राजभाषा' का पद प्राप्त करना भर शेष था।

'सम्मेलन' का जयपुर-अधिवेशन

महात्मा जी का त्याग-पत्र

सन् १९४४ की गरमियों में 'सम्मेलन' का जयपुर-अधिवेशन हुआ। इस समय महात्मा गान्धी, तथा राजर्षि टण्डन जी भी, जेल से बाहर आ चुके थे। महात्मा जी ने इसी समय, अधिवेशन से पहले ही, सम्मेलन की 'स्थायी समिति' से त्याग-पत्र दे दिया! त्याग-पत्र में आप ने लिखा था कि राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में 'सम्मेलन' से मेरा काफी मत-भेद है; इस लिए मैं 'सम्मेलन' की स्थायी समिति में रहना ठीक नहीं समझता; पर सम्मेलन से अलग हो कर भी मैं हिन्दी की सेवा करता ही रहूं गा। मत-भेद का कारण यह था कि महात्मा जी नागरी के साथ फारसी लिपि को भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अनिवार्य समझते थे और दोनो लिपियों का समान तथा अनिवार्य प्रचार चाहते थे। 'सम्मेलन' केवल नागरी लिपि का प्रचार करता आ रहा था और उसी को

सो, १९४२ में टण्डन जी भी जेल चले गये ! सम्मेलन का काम उन की अनुपस्थिति में डा० अमर नाथ झा महोदय ने बड़ी ही निष्ठा तथा तत्परता के साथ अपने सिर लिया। श्रद्धेय टण्डन जी को सम्मेलन की प्रगति के समाचार बराबर मिलते रहते थे।

सन् १९०१ से १९१० तक जो राष्ट्रभाषा की प्रगति हुई थी, उस में अत्यधिक प्रेरणा उस राजनैतिक आन्दोलन से मिली थी, जिस के सूत्रधार राष्ट्रपितामह लोकमान्य तिलक थे और जिसकी भुजाएँ थीं बंगाल तथा पंजाब। १९१० से १९२० तक फिर हिन्दी की प्रगति बड़े वेग से हुई, जो उसी जागरण का फल थी। १९२१ से '२३-'२४ तक महात्मा गान्धी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन चला। इस से तो राष्ट्रभाषा की नींव पाताल तक चली गयी और उस नींव पर भव्य प्रासाद की आधी इमारत भी खड़ी हो गयी। फिर १९२४ से १९३० तक राष्ट्रभाषा का प्रसार विद्युत्-वेग से देश में हुआ। देखने वाले दंग रह गये। १९३१-३४ के राष्ट्रीय आन्दोलन ने फिर एक वार राष्ट्रभाषा की भावना में शक्ति भर दी। नेता और कार्यकर्ता जेलों में चले जाते रहे और जनता बराबर काम में जुटी रहती रही। परन्तु, इस समय तक कुछ साम्प्रदायिक लोग घबरा उठे थे और दूसरा सहारा न देख हिन्दी-पक्ष को 'साम्प्रदायिक' कह कर बड़े नेताओं से प्रार्थना की कि वे उस से अलग हो जायँ। फलतः 'हिन्दुस्तानी' का नाम ले कर हिन्दी का विरोध किया जाने लगा। परन्तु, १९४२ से ४४

तक जो राष्ट्रीय संघर्ष रहा, उस से राष्ट्रभाषा का प्रवाह अत्यधिक वेगवान् हो गया। अब तक भारत का कोई भी प्रदेश राष्ट्रभाषा से शून्य न रहा था। सिन्ध, गुजरात, मद्रास, बंगाल, उत्कल आदि अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में लाखों छात्र प्रतिवर्ष हिन्दी की विविध परीक्षाओं में बैठ रहे थे और राष्ट्रीय गर्व का अनुभव करते थे। इस तरह राष्ट्रभाषा की समस्या लगभग पूरी तरह से जनता ने हल कर ली थी। अब तो, देश के स्वतन्त्र होते ही, उसे 'राजभाषा' का पद प्राप्त करना भर शेष था।

'सम्मेलन' का जयपुर-अधिवेशन

महात्मा जी का त्याग-पत्र

सन् १९४४ की गरमियों में 'सम्मेलन' का जयपुर-अधिवेशन हुआ। इस समय महात्मा गान्धी, तथा राजर्षि टण्डन जी भी, जेल से बाहर आ चुके थे। महात्मा जी ने इसी समय, अधिवेशन से पहले ही, सम्मेलन की 'स्थायी समिति' से त्याग-पत्र दे दिया। त्याग-पत्र में आप ने लिखा था कि राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में 'सम्मेलन' से मेरा काफी मत-भेद है; इस लिए मैं 'सम्मेलन' की स्थायी समिति में रहना ठीक नहीं समझता; पर सम्मेलन से अलग हो कर भी मैं हिन्दी की सेवा करता ही रहूं गा। मत-भेद का कारण यह था कि महात्मा जी नागरी के साथ फारसी लिपि को भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अनिवार्य समझते थे और दोनो लिपियों का समान तथा अनिवार्य प्रचार चाहते थे। 'सम्मेलन' केवल नागरी लिपि का प्रचार करता आ रहा था और उसी को

राष्ट्रलिपि के रूप में ग्रहण करता था; यद्यपि फारसी लिपि का विरोध उस ने कभी नहीं किया। महात्मा जी का दूसरा मत-भेद भाषा के स्वरूप पर भी था। वे राष्ट्रभाषा को 'हिन्दुस्तानी' नाम देना पसन्द करते थे, जो उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी राज्य ने उद्भावित किया था और चलाया था। हिन्दी में प्रचलित फारसी-अंग्रेजी आदि शब्दों का बहिष्कार 'सम्मेलन' को अभीष्ट नहीं; परन्तु मूल स्रोत के रूप में वह संस्कृत भाषा को मान्यता देता है। 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक बार-बार संस्कृत तथा फारसी-अरबी को समानता देते रहे हैं। बस, इतना यह मत-भेद।

महात्मा जी के त्याग-पत्र से 'सम्मेलन' के कार्यकर्ताओं को बहुत दुःख हुआ और श्रद्धेय टण्डन जी तो ऐसे हो गये, मानो उन का सर्वस्व खो गया! टण्डन जी ही तो महात्मा जी को 'सम्मेलन' में लाये थे और उन्हें ही उन का त्याग-पत्र पढ़ना पड़ा! बड़ा असमंजस था। किया क्या जाय? सम्मेलन अपने उद्देश्य में ढील या परिवर्तन करे, या महात्मा जी को छोड़े? इधर कुआ, उधर खाई! सब तरह से विचार-विमर्श के बाद महात्मा जी की सेवा में लिखा गया कि यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात हो गी कि आप सम्मेलन छोड़ जायँ। सम्मेलन की प्रतिष्ठा आप से बहुत बढ़ी है और राष्ट्रभाषा की शक्ति बढ़ी है। आप नागरी के साथ-साथ फारसी लिपि का भी प्रचार चाहते हैं और करते हैं; तो इस से सम्मेलन को कोई ऐतराज नहीं है। आप 'हिन्दुस्तानी' का प्रचार चाहते और करते हैं, इस से भी सम्मेलन अपनी कोई

क्षति नहीं समझता। इस काम के लिए 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' है ही। यह सब कुछ करते हुए भी आप 'सम्मेलन' क्यों छोड़ें? आप सम्मेलन से अलग न हों, यही प्रार्थना है।

ऐसा उत्तर पा कर महात्मा जी ने फिर लिखा कि लिपि तथा भाषा के सम्बन्ध में मेरा जो मौलिक मत-भेद है, उस के कारण मैं सम्मेलन में नहीं रह सकता। मेरा त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया जाय।

महात्मा जी का त्याग-पत्र स्वीकार करने की जिम्मेदारी स्थायी समिति ने अपने ऊपर लेना ठीक न समझा और उसे जयपुर-सम्मेलन में विचारार्थ भेज दिया। जयपुर-अधिवेशन में श्रद्धेय टण्डन जी भी उपस्थित थे। इस अधिवेशन में सब से महत्त्वपूर्ण चीज कोई थी, तो महात्मा जी का वह त्याग-पत्र। लोगों के हृदय उद्वेलित थे। महात्मा जी सम्मेलन छोड़ जायँ गे, तो क्या होगा? 'सम्मेलन' क्या रहे गा? त्याग-पत्र स्वीकार न हो, इस का एक ही उपाय था, नागरी के साथ-साथ फारसी लिपि का भी अनिवार्य प्रचार तथा 'हिन्दी' की जगह 'हिंदुस्तानी' भाषा को ग्रहण करना। यह सब सम्मेलन के मूल उद्देश्य से बहुत दूर, बल्कि विपरीत था! उद्देश्य छोड़ो या, फिर महात्मा जी के महान् व्यक्तित्व के सहयोग की शक्ति छोड़ो। जयपुर में इस विषय पर बड़ा समुद्र-मन्थन हुआ। सन्ध्या से विचार प्रारम्भ हुआ और रात के दो बज गये! अन्ततः बड़े ही दुःख के

साथ, धड़कते हुए हृदय से, आंसुओं को रोक कर, सम्मेलन ने महात्मा जी का त्याग-पत्र स्वीकार किया।

इस सम्मेलन में यह बात बहुत अखरी कि राज्य से, जयपुर-सरकार से, वैसा कोई सहयोग-समर्थन नहीं मिला। इस समय जयपुर के प्रधान मन्त्री सर मिर्जा इस्माइल थे, जो एक दिन सम्मेलन में पधारे थे और राष्ट्रभाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन कर के चले गये थे।

अन्तःसङ्घर्ष

अब राष्ट्रभाषा का अन्तःसंघर्ष और भी बढ़ गया। 'सम्मेलन' के कुछ पुराने कार्यकर्ता (ठाकुर श्रीनाथ सिंह आदि) रुष्ट हो गये और 'सम्मेलन' छोड़ गये। एक के बाद एक, कोई आठ-दस कार्यकर्ता अलग हो गये। टण्डन जी को गालियाँ मिलने लगीं! कुछ लोगों ने तो टण्डन जी को मि० जिन्ना से भी बड़ा देश का शत्रु समझा और 'साम्प्रदायिक' कह कर बुरा-भला कहा! उन्हों ने छोटे बच्चों में भी टण्डन जी के प्रति वैसी भावना फैलायी और लिखा—

'जैसे टंडन, तैसे जिन्ना'

'जैसे जिन्ना, तैसे टंडन' नहीं, बल्कि 'जैसे टंडन, तैसे जिन्ना'! कहीं यह बात ठीक होती और जैसे टंडन हैं, वैसे जिन्ना भी बन जाते! तब तो कहना ही क्या था! खैर नेताओं के मत-भेद

पर साधारण जनों में ऐसी प्रतिक्रिया होती ही है। महात्मा जी का और श्री सुभाषचन्द्र बोस का जब वह 'मौलिक मत-भेद' राजनीति में प्रकट हुआ, तो किसी अहिंसावादी देशभक्त ने बिहार की एक सभा में श्री सुभाषचन्द्र बोस पर जूता फेंक कर अपनी निष्ठा प्रकट की थी! इसी तरह का सम्मान महर्षि मालवीय को पंजाब में मिला था, जब कांग्रेस से अलग एक पार्टी उन्हों ने असेंबली-चुनाव पर खड़ी की थी और (इस पार्टी की ओर से उम्मीदवार) श्री शन्नो देवी का समर्थन करने वे पंजाब गये थे। नेताओं के प्रति भक्ति का जो उद्रेक होता है, उस के कारण दूसरे नेता का वैसा अपमान इस देश में साधारण बात है!

परन्तु गुस्सा का वातावरण बहुत जल्दी शान्त हो गया और फिर लोग राष्ट्रभाषा की समस्या पर गम्भीरता से सोचने लगे।

रेडियो का बहिष्कार

जयपुर-अधिवेशन में 'आ० इं० रेडियो' के बहिष्कार का प्रस्ताव भी पास हुआ। सम्मेलन ने एक प्रस्ताव को पास कर के हिन्दी के कवियों से, संगीतविशारदों से, भाषण (टॉक) देने वालों से तथा अन्य कलाकारों से निवेदन किया कि जब तक रेडियो की भाषा-नीति में सुधार न हो, तब तक वे पूर्ण रूप से उस का बहिष्कार कर के राष्ट्रभाषा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करें।

बात यह कि आ० इ० रेडियो की 'हिन्दुस्तानी' उस समय बहुत ही बेढब थी ! वहां 'गेहूं' को 'गन्दुम' और 'पूरब-पच्छिम' को 'मगरिब-मशरिक' बोला जाता था। 'सपने' को 'ख्वाब' और 'राजनीति' को 'सियासत' बोलने का नियम था। 'विदेश-मंत्री' सदा 'वजीर खारजा' कहे जाते थे। 'पिता' कहना पाप था, सदा 'अब्बा जान' याद किये जाते थे। मतलब यह कि 'हिन्दुस्तानी' नाम, और चीज ईरान या अरब की चलती थी ! रेडियो के डाइरेक्टर एक ऐसे सज्जन थे, जो अपने आप को अरब नस्ल का होने का 'फख्र' रखते थे। उन के नीचे के अन्य अधिकारी भी अधिकांशतः ऐसे ही थे। जो अधिकारी भारतीय संस्कृतिकी परम्परा के थे भी, वे हिन्दी से वैसे परिचित न थे और जो परिचित भी थे, उन की चलती न थी ! नौकरी करनी थी, हुक्म की तामील बजानी थी ! जिन लोगों को हिन्दी-भाषण आदि के लिए आमंत्रित किया जाता था, उन की भाषा भी काट-कूट कर 'आम फ़हम' बना दी जाती थी ! इस के लिए सम्मेलन की ओर से लिखा-पढ़ी की गयी कि भाषा ठीक कर ली जाय ; पर कोई फल न निकला ! तब अन्त में वैसा प्रस्ताव जयपुर में पास किया गया।

हिन्दी के कवियों ने, नाटककारों ने, कथाकारों ने तथा अन्य विद्वानों ने 'सम्मेलन' के आदेश का पूर्ण रूप से पालन किया। रेडियो का एकदम बहिष्कार ! बेचारे रेडियो-अधिकारी 'रिकार्ड' आदि से काम चलाते रहे। रेडियो एकदम नीरस तथा सारशून्य

हो गया ! एक साल भी संघर्ष न चल पाया, कुछ ही महीनों बाद रेडियो अधिकारी झुक गये। समझौते के लिए 'सम्मेलन' के अधिकारी आमंत्रित किये गये। 'एडहाक कमेटी' बनी। भाषा में संस्कृत, अरब-फारसी आदि के शब्दों का अनुपात निश्चित हुआ और स्वतंत्र भाषण आदि में जो भाषा की काट-छांट होती थी, सो बन्द हुई। भाषा में थोड़ा-बहुत सुधार हुआ ; सुनने में अब वह उतनी भद्दी नहीं रही।

इस रेडियो-बहिष्कार में हिन्दी के कलाकारों ने और विद्वानों ने पूर्ण आत्म-त्याग तथा अनुशासन का परिचय दिया था। उन्हें काफी आर्थिक हानि भी उठानी पड़ी, मेल-जोल भी तोड़ना पड़ा। परन्तु विजय उन की हुई। सम्मेलन की ओर से इन सब को बधाई दी गयी। यद्यपि यह छोटा काम मालूम देगा ; परन्तु जो लोग उस स्थिति औरप रिस्थिति से परिचित हैं, वे जानते हैं कि यह कितना कठिन काम था, जिस में, डेढ़-दो वर्ष के निरन्तर संघर्ष के बाद यह आंशिक सफलता मिली—'गन्दुम' की जगह 'गेहूं' और 'मगरिब-मशरिक' की जगह 'पूरब-पच्छिम' सुनायी पड़ने लगा। 'पिता-माता' भी लोगों के मुंह से निकलने लगे ; यद्यपि कष्ट के साथ। 'विदेशमंत्री' भी आये और 'सियासत' की जगह 'राजनीति' भी। सारांश यह कि रेडियो की भाषा में काफी सुधार हुआ ; यद्यपि पूर्ण रूप से अब भी वह सुधरी नहीं। 'प्रधान मंत्री' की जगह 'बड़े मंत्री' अब भी वहाँ बोला जाता है ; पर 'उप प्रधान मंत्री' को 'छोटे बड़े मंत्री'

नहीं बोला जाता है ; यही खैर है। 'देश की रक्षा' को 'देश की सलामती' अब भी कहा जाता है। जब केन्द्रीय सरकार अपनी भाषा-नीति स्पष्ट करे गी, हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हो गी, तभी सब ठीक हो गा।

सो, सन् १९४४-४५ इस तरह गये। देश भर में राष्ट्रभाषा की चर्चा रही, बड़े जोर से राष्ट्राभाषा की आवश्यकता अनुभव की गयी। हिन्दी के अतिरिक्त, बँगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू आदि प्रान्तीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में तथा अंग्रेजी पत्रों में भी राष्ट्रभाषा सम्बन्धी चर्चा प्रमुखता से चली और सब ने हिन्दी का समर्थन किया।

इधर 'हिन्दुस्तानी' की भी धूम मची। श्री सुन्दरलाल जी, डा० ताराचन्द जी, तथा श्री तेज बहादुर सप्रू साहब के जोरदार प्रयत्न 'हिन्दुस्तानी' के लिए प्रवृत्त हुए। महात्मा गान्धी अपनी शक्ति इधर ही लगा रहे थे और सच तो यह है कि उन्हीं के पीछे ये सब चल रहे थे। मुसलमान तो कम बोलते थे ; दूसरे लोग ही 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन कर रहे थे। मुसलमानों ने तो 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन किया ही नहीं। वे उर्दू चाहते थे। 'हिन्दुस्तानी' के नाम पर नागरी लिपि सीखना तथा उर्दू को 'हिन्दुस्तानी' बनाने के लिए 'मुल्क' को कभी-कभी 'देश' या 'देस' कहना और अटके-भटके 'सियासत' को 'राजनीति' कहना उन्हें पसन्द न था। वे चाहते शायद यह थे कि हिन्दी के समर्थक जब 'हिन्दुस्तानी' पर आ जायँ, तब आगे कुछ कह लिया

जाय गा। जो भी हो, राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्र-लिपि के सम्बन्ध में वे जब कभी बोलते थे, तो इतना ही कहते थे कि "हम लोग संसकीरत के बड़े-बड़े अलफाज अपनी ज़बान में अगर भर दें गे, तो फिर यह एक आम-फ़हम ज़बान न रह कर बिरहमन लोगों की ज़बान बन जाय गी और दुनिया के दीगर मुमालिक (मुल्क) कहें गे कि हिन्दोस्तान सदियों पीछे जा रहा है, जब कि सारी दुनिया आगे बढ़ती जा रही है। चुनाँचे, हमें अपनी कौमी ज़बान ऐसी रखनी हो गी, जिसे न सिर्फ बिरहमन, बल्कि दीगर लोग भी समझ सकें और मुसलमान लोग भी जिस की वक़त करें।"

बस, इसी तरह की बातें वे करते थे। साधारण जनता पूर्ण रूप से हिन्दी के पक्ष में थी। हिन्दी के समर्थन में इस बार काशी के तपस्वी साहित्यकार पं० चन्द्रबली पाण्डेय ताल ठोंक कर सामने आये और 'उर्दू की हकीकत' तथा 'हिन्दी की समस्या' सामने रखने में इतिहास सामने ला कर रख दिया और 'हिन्दुस्तानी' की चीर-फाड़ तो इस तरह की कि क्या कहा जाय ! पूरा विश्लेषण कर के पढ़े-लिखे लोगों के तो मुँह बन्द ही कर दिये, जो 'हिन्दुस्तानी' के समर्थन में न जाने क्या-क्या लिख रहे थे !

सन् १९४६ में 'सम्मेलन' का अधिवेशन कराची में बड़े ठाट से हुआ। इस समय तक अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी का इतना प्रचार हो चुका था कि मदरासी तथा सिन्धी विद्वान् हिन्दी-

साहित्य पर गवेषणात्मक रचनाएँ तयार करने लगे थे। कराची में 'सम्मेलन' की जो साहित्य-परिषद् हुई थी, उस में दो सर्वश्रेष्ठ निबन्ध रहे थे। एक निबन्ध एक मद्रासी विद्वान का था, दूसरा एक सिन्धी प्रोफेसर का।

[१६४६ से आगे]

'पाकिस्तान' और उस की भाषा

द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद सब नेता जेल से बाहर आ गये ; सब से अन्त में पं० जवाहर लाल नेहरू फाटक से बाहर हुए ! राजनीति की चर्चा चली। असेम्बलियों के नये चुनाव हुए। प्रान्तों में पुनः जनतन्त्री सरकारें बनीं। मुस्लिम-प्रधान प्रान्तों में से भी एक (सीमाप्रान्त) में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बना। हिन्दू-बहुल प्रान्तों में एक भी प्रान्त ऐसा न निकला, जहाँ गैर-कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बना हो। सारांश यह, देश के अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेसी और कुछ प्रान्तों में गैर-कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बने। इस समय साम्प्रदायिक संघर्ष बढ़ता ही जा रहा था और उस की चरम-बीभत्स परिणति उस भयानक नर-हत्याकाण्ड में हुई, जो १५ अगस्त १९४७ (ब्रिटिश सरकार से विधिवत् सत्ता-ग्रहण) के साथ-साथ तथा उस के बाद देश ने आँखें बन्द कर के देखा ! देश के टुकड़े हुए, पाकिस्तान बन गया। पाकिस्तान ने अपनी राजभाषा उर्दू घोषित कर दी और राष्ट्र-लिपि एकमात्र फारसी। यह भी घोषित कर दिया गया कि पाकिस्तान की प्रान्तीय भाषाएँ (बँगला आदि) भी फारसी लिपि में ही चलेंगी।

इस समय 'हिन्दुस्तानी-प्रचारसभा' के मन्त्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने महात्मा जी से पूछा कि अब, पाकिस्तान बनने के बाद

'हिन्दुस्तानी-प्रचारसभा' का क्या हो गा? क्या इस की जरूरत अब भी है? महात्मा जी ने दृढ़ता से उन्हें उत्तर दिया—हां, हिन्दुस्तानी-प्रचारसभा की बराबर उसी तरह जरूरत है। हम किसी की नकल न करें गे। हमारा राष्ट्र सभी सम्प्रदायों को सुविधा तथा समानता दे गा। 'हिन्दुस्तानी' का प्रचार राष्ट्रीयता का प्रमुख अंग है। प्रचार-सभा का काम जारी रहना चाहिए।

महात्मा जी की ऐसी इच्छा प्रकट होने पर भी अग्रवाल जी तथा कुछ और सदस्य 'हिन्दुस्तानी-प्रचारसभा' के काम से ढीले पड़ गये! उन का उत्साह जैसे ठण्डा पड़ गया।

युक्तप्रान्त की राजभाषा हिन्दी

राष्ट्रभाषा की चर्चा तो चल ही रही थी; इधर प्रान्तों की सरकारी भाषा का प्रश्न भी छिड़ा। युक्तप्रान्तीय सरकार सोच रही थी कि प्रान्त की सरकारी भाषा क्या हो। अंग्रेजी को अब सरकारी भाषा बनाये रखना अखर रहा था। श्रद्धेय टण्डन जी तथा बाबू सम्पूर्णानन्द जी के कारण हिन्दी को बहुत बल मिल रहा था। शेष मन्त्री भी हिन्दी के पक्ष में थे। परन्तु प्रान्त की गवर्नर महोदया—माननीया श्रीमती सरोजनी नायडू—'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में थीं और नागरी के साथ फारसी लिपि का भी समर्थन कर रही थीं। इस से पहले उन्हों ने 'गवर्नमेंट-हाउस' में अनेक बार उर्दू-कवियों को सम्मानित किया था और

'मुशायरा' (उर्दू-कविसम्मेलन) भी वहाँ कराया था। वह सब तो उन की व्यक्तिगत चीज थी। परन्तु जब अनेक समारोहों पर उन्हों ने भाषा-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये और 'हिन्दुस्तानी' का स्पष्ट समर्थन किया, तब प्रान्त के राष्ट्रीय पत्रों ने 'सम्पादकीय' निवेदन उन से किया कि--"प्रान्त के गवर्नर ऐसी स्थिति में हैं कि किसी निर्णय विषय में वे इस तरह अपने विचार प्रकट करें, यह ठीक नहीं है। विशेष रूप से तब, जब मन्त्रि-मण्डल किसी समस्या पर कुछ निर्णय करने जा रहा हो। युक्त-प्रान्त की सरकार प्रान्त की राजभाषा पर इस समय सोचा-विचारी कर रही है। ऐसी स्थिति में यह उचित नहीं है कि माननीया गवर्नर महोदया भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार इस तरह प्रकट करें।" पत्र-पत्रिकाओं की इस टीका पर गवर्नर महोदया का ध्यान गया और फिर उन्हों ने भाषा के सम्बन्ध में वैसी चर्चा नहीं की।

सन् १९४७ में देश में सब से पहले युक्तप्रान्त को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि प्रान्तीय सरकार ने हिन्दी को प्रान्त की राजभाषा तथा नागरी को राज्य की अधिकृत लिपि घोषित कर दिया।--

देश में अपार हर्ष छा गया। चारो ओर से युक्तप्रान्त की सरकार को बधाइयाँ मिलने लगीं। परन्तु कुछ बड़े कांग्रेसी नेता इस से रुष्ट भी हुए और इसे युक्तप्रान्तीय सरकार का 'अविवेकपूर्ण काम' बतलाया। प्रान्त के मुस्लिम-लीगियों को

तो बहुत ही बुरा लगा। इसी समय प्रान्तीय मुस्लिम लीग के नेता श्री खलीकुज़्ज़मा साहब एक ढंग से पाकिस्तान उड़ गये और वहाँ जा कर कहा कि मैं वहाँ रह कर हिन्दी कैसे पढ़ता, नागरी कैसे सीखता ? इस मुसीबत से बचने के लिए भाग आया ! उन के पीछे लीग के नेता मि० लारी हुए, जो कुछ दूसरे लीगियों को साथ ले कर केन्द्रीय सरकार के पास शिकायत ले कर पहुंचे। वहाँ कहा कि 'युक्तप्रान्तीय सरकार ने हिन्दी को राजभाषा तथा नागरी को राष्ट्रलिपि घोषित कर के उचित नहीं किया है ; क्यों कि भारतीय विधान-परिषद् ने अभी तक राष्ट्रभाषा तथा लिपि के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दिया है।' जब प्रान्त के शिक्षा-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द जी को इस शिकायती शिष्ट-मण्डल का हाल सुनाया गया, तो उन्हों ने कहा--'इन लीगी नेताओं को यह पता ही नहीं कि प्रान्त अपनी भाषा तथा लिपि का निर्णय करने में स्वतन्त्र हैं। केन्द्रीय सरकार राष्ट्रभाषा का निर्णय करे गी, न कि किसी प्रान्त की भाषा और लिपि का।' केन्द्रीय सरकार से इन लीगियों को क्या उत्तर मिला, सो तो मालूम नहीं हुआ ; पर अनुमान लगाया जा सकता है कि क्या कहा गया हो गा।

इस के बाद प्रान्तीय असेम्बली की सम्पूर्ण कार्रवाई भी हिन्दी-नागरी में होने लगी। असेम्बली का कार्य-क्रम हिन्दी-नागरी में सम्पन्न होने लगा। बिल हिन्दी-नागरी में आने लगे। तब लीगी सदस्यों ने बड़ा हल्ला मचाया और कहा कि "यह सब

हमारी समझ में ही नहीं आता है! हम असेम्बली के कार्य-क्रम में कैसे भाग लें!"

परन्तु थोड़े ही दिनों में सब शान्त हो गये और समझने लगे। लीगियों ने अपनो 'लीग' का नाम भी हिन्दी कर दिया—'प्रजा पार्टी'।

इसी के बाद (दिसम्बर १६४७ में) 'सम्मेलन' का अधिवेशन बम्बई में हुआ। युक्तप्रान्त के प्रधान मन्त्री पं० गोविन्द वल्लभ पन्त के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए 'सम्मेलन' का उद्घाटन इस समय उन के ही द्वारा सम्पन्न कराया गया।

'सम्मेलन' का बम्बई-अधिवेशन

सम्मेलन का अधिवेशन बम्बई में श्री राहुल सांकृत्यायन की अध्यक्षता में हुआ, जिन्हों ने हिन्दी का प्रसार देश में तथा विदेश (रूस आदि) में खूब किया था, कर रहे थे।

अधिवेशन से पहले विधान-परिषद् के सदस्यों में हिन्दी-नागरी के पक्ष-समर्थन का काम पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा सेठ श्री गोविन्द दास जी ने प्रभाव-पूर्ण ढँग से किया था। सेठ जी ने विधान-परिषद् के ५५% सदस्यों के हस्ताक्षर सम्मेलन में उपस्थित किये, जो उन्हों ने हिन्दी के पक्ष में कराये थे। तब उत्साह और हर्ष की हिलोरें सदस्यों में उठने लगीं, जैसे कि

सामने (मरीन ड्राइव पर) अनन्त समुद्र तरंगें ले रहा था। समुद्र की ही गम्भीर ध्वनि की तरह सदस्यों की तुमुल करतल-ध्वनि ने आकाश गुँजा दिया! अब हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनने से कौन रोक सके गा? बम्बई-सम्मेलन इसी हर्षोल्लास में सम्पन्न हुआ।

कम्यूनिस्ट पार्टी का कोप

श्री राहुल सांकृत्यायन ने अध्यक्ष-पद से जो भाषण दिया और उस में हिन्दी-नागरी का जैसा समर्थन जिस ढँग से किया, उस से भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी क्षुब्ध हो गयी! उस ने राहुल जी से जवाब तलब किया—'आप ने पार्टी की नीति के विरुद्ध, राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में, वैसे विचार क्यों प्रकट किये?' राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में समाजवादी पार्टी और कांग्रेस आदि अन्य राजनैतिक संस्थाओं की तरह कम्यूनिस्ट पार्टी भी अभी तक गोल है! कुछ भी निर्णय नहीं किया है। इसी लिए वह जवाब-तलबी हुई।

राहुल जी राष्ट्रभाषाके सम्बन्ध में बहुत दृढ़ हैं। वे जन्मना कम्यूनिस्ट हैं। कम्यूनिस्ट पार्टी छोड़ दें, तब भी कम्यूनिस्ट हैं। वे भाषा के सम्बन्ध में कभी झुकने को तयार नहीं। उत्तर में अपना त्यागपत्र लिख भेजा। राष्ट्रभाषा का समर्थन करने के लिए कम्यूनिस्ट पार्टी छोड़ दी। तब से वे जी-जान लगा कर हिन्दी का ही काम कर रहे हैं।

बम्बई-अधिवेशन के बाद ही, ३० जनवरी १९४८ के दिन राष्ट्र को एक महासंकट का सामना करना पड़ा ! काली रात सामने आ गयी ! राष्ट्र की सब प्रवृत्तियां जहां की तहां रुक गयीं। राष्ट्र के महान् नेता का वियोग सदा के लिए हो गया ! छह मास तक राष्ट्र जैसे मूर्च्छित पड़ा रहा।

अनेक राज्यों की राजभाषा हिन्दी

युक्तप्रान्त की सरकारी भाषा हिन्दी और लिपि नागरी घोषित होना एक क्रान्ति समझी गयी थी ; क्योंकि स्थिति ही वैसी थी। जब केन्द्रीय सरकार ने कोई कार्रवाई इस के विरुद्ध न की, तब समझा गया कि यह प्रान्तों का नैसर्गिक अधिकार है कि वे अपनी भाषा को अधिकृत रूप से राज-काज में चलायें और इस में कोई विघ्न-बाधा वैसी नहीं है ; जैसी कि समझी जा रही थी। जनता तो हिन्दी चाहती ही थी और हिन्दी-भाषी प्रान्तों की जनतन्त्रीय सरकारें भी हिन्दी-नागरी के पक्ष में थीं ; केवल आगे चलना कठिन था। सो काम युक्तप्रान्त ने कर दिया। इस से सर्वत्र स्फूर्ति फैली। मध्य प्रान्त तथा बिहार की सरकारी भाषा भी नागरी में लिखी हिन्दी घोषित हुई। पंजाब ने भी कदम बढ़ाया। मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश, राजस्थान, मत्स्य प्रदेश आदि प्रादेशिक राज्यों ने भी अपने-अपने राज्य की सरकारी भाषा हिन्दी और लिपि नागरी स्वीकृत कर ली। एक बिजली दौड़ गयी।

शासन-शब्दकोश

इस तरह विविध राज्यों ने जब हिन्दी को राजभाषा के पद पर अभिषिक्त कर दिया, तब नये शासन-शब्दकोश की जरूरत पड़ी। सदियों से विदेशी भाषा का प्रभाव शासन पर रहा और हमारे अपने शासन-सम्बन्धी शब्द लुप्त हो गये! अब जरूरत पड़ी, जैसे अंग्रेजों के विदा होने पर योग्य भारतीय शासकों की खोज हुई थी। युक्तप्रान्तीय सरकार, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने इस दिशा में काम किया। सम्मेलन के सभापति श्री राहुल सांकृत्यायन ने एक सुन्दर 'शासन-शब्दकोश' तयार कर दिया, जो बहुत जल्दी, १९४८ में ही, प्रकाशित भी कर दिया गया। इस के बाद राहुल जी को सम्मेलन ने वैज्ञानिक (पारिभाषिक) शब्दों का एक बृहत् कोश तयार करने के लिए नियुक्त किया, जिस से कि हिन्दी के द्वारा विज्ञान की विविध शाखाओं की उच्च शिक्षा देने को समुचित-व्यवस्था की जा सके। यह काम बहुत तेज़ी से आगे बढ़ रहा है।

मौलाना आजाद

भारत के केन्द्रीय राज्य में शिक्षा-मंत्री के महत्त्वपूर्ण पद पर माननीय मौ० अबुल कलाम आजाद विराजमान हैं। और उन के शिक्षा-सचिवालय के मुख्य अधिकारी हैं डा० ताराचन्द जी जो पहले प्रयाग-विश्वविद्यालय में थे और हिन्दी का विरोध करने में बड़ा नाम पा चुके थे। मौलाना राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में

बोलते बहुत कम हैं, काम करते रहते हैं। उर्दू भी हिन्दी का ही एक रूप है—हिन्दी का विदेशी संस्करण, जिस में विदेशी शब्दों की अत्यधिक रेल-पेल, विदेशी (फारसी) लिपि का परिधान और जिस के साहित्य में विदेशी भावनाओं का महत्व ; विदेशी नगरों, महापुरुषों तथा नदियों और पशु-पक्षियों का ही कीर्तन है। हिन्दी के इसी रूप को मौ० आजद अधिक पसन्द करते रहे हैं। यह उन की प्रिय चीज है। दिल्ली की 'अंजुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू' को मौ० आजाद ने केन्द्रीय सरकारी कोष से ५०००००) रु० की सहायता दी ; हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को एक पैसा भी नहीं ! बहुत कुछ लिखा-पढ़ी करने पर 'सम्मेलन' को भी बाद में सरकारी सहायता मिली, कुछ शर्तों के साथ ; पर 'अंजुमन' से अधिक नहीं ; बिलकुल उतनी ही ! इसी को न्याय कहते हैं।

मौलाना साहब के भाषणों पर असेम्बली के सदस्यों में बार-बार असन्तोष पैदा हुआ। असेम्बली-अधिवेशन में कितनी ही बार अहिन्दीभाषी सदस्यों ने चिल्ला-चिल्ला कर कहा कि मौलाना साहब का भाषण अरबी-फारसी शब्दों से ऐसा भरा हुआ रहता है कि हम लोग कुछ भी समझ नहीं पाते ! इस का प्रभाव मौलाना पर पड़ा और उस का फल असेम्बली के अगले अधिवेशन (मार्च, १६४६) में सामने आया, जब आप 'सियासत' की जगह 'राजनीति' और 'मरकजी हुकूमत' जी जगह 'केन्द्रीय सरकार' बोले। इस समय मौलाना का भाषण ठेठ

हिन्दी में हुआ, जिस से सदस्यों ने सन्तोष तथा पत्र-पत्रिकाओं के सम्वाददाताओं ने हर्ष-विस्मय प्रकट किया। संस्कृत शब्दों का उच्चारण भी मौलाना ने ठीक किया।

इस से पहले, १९४८ की एक घटना और ऐसी हुई, जिस का उल्लेख करना जरूरी है। उस से जान पड़े गा कि मौलाना में कितना अनुकूल परिवर्तन राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में होता जा रहा है।

१९४७ में प्रयाग-विश्वविद्यालय ने अपनी 'हीरक जयन्ती' मनायी, जिस में अन्य नेताओं के अतिरिक्त शिक्षा-मन्त्री मौलान आजाद को विशेष रूप से आमंत्रित किया गया। प्रयाग पहुंचने की उन की निश्चित तिथि प्रकट हो जाने पर राजर्षि टण्डन ने सम्मेलन को प्रेरणा दी कि इस अवसर पर मौलाना का अभिनन्दन सम्मेलन की ओर से होना चाहिएं और उन्हें अभिनन्दन-पत्र भेंट करना चाहिए। सम्मेलन ने सहर्ष अपने राष्ट्रीय नेता का अभिनन्दन स्वीकार किया। समाचार-पत्रों में यह खबर छप गयी। तयारियाँ हो गयीं। अभिनन्दन-पत्र शुद्ध खादी पर छपवा कर और बढ़िया शीशे-चौखटे में मढ़वा कर रख लिया गया। इस उत्सव के लिए सम्मेलन के संग्राहालय-भवन को विशेष रूप से सजाया गया। प्रतिष्ठित नेताओं तथा विद्वानों को निमंत्रित किया गया और प्रार्थना की गयी कि इस समारोह में पधार कर अपने राष्ट्रीय नेता का

अभिनन्दन और राष्ट्रभाषा के प्रति निष्ठा प्रकट करें। निश्चित समय पर भवन प्रतिष्ठित जनों से खचाखच भर गया। बाहर भी लोग उत्सुक खड़े थे। परन्तु मौलाना आजाद ने सम्मेलन में जाकर अभिनन्द-पत्र ग्रहण करने में असमर्थता प्रकट कर दी! सब कुछ धरा-धराया रह गया। लोग इतने निराश हुए कि क्या कहा जाय! इस में दोष बहुत कुछ उन लोगों का भी है, जिन्हों ने हिन्दी-पक्ष को 'साम्प्रदायिक' कह कर वैसी-वैसी गालियाँ बहुत दिन तक दी थीं और दे रहे थे। मौलाना साहब तो जन-रुचि का अनुवर्तन करते हैं। जब देखा कि असेम्बली-सदस्य वैसी भाषा नहीं समझ पाते, तो हिन्दी बोलने लगे। डाक्टर इक़बाल के शब्दों में—'खुदा-खुदा न सही, राम-राम ही कर लें गे।' झगड़े की बात ही क्या है? परन्तु श्री सुन्दरलाल जैसे लोग तो वातावरण ही दूसरा पैदा कर रहे थे! सम्मेलन के अभिनन्दन-पत्र की वह दुर्दशा उसी वातावरण का स्वाभाविक परिणाम था!

विधान-परिषद् की कांग्रेस पार्टी

जनता की राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी भावना की उपेक्षा विधान-परिषद् में की नहीं जा सकती। अब तक जो कुछ हुआ था, उस से जन-मत स्पष्ट हो चुका था। भारत की राष्ट्रभाषा का प्रश्न अधिक दिन टाला नहीं जा सकता। विधान-परिषद् में यह समस्या एक दिन विचार के लिए आये गी ही। वि० प० के

अधिकांश सदस्यों ने हिन्दी के पक्ष में अपनो स्वीकृति दे ही दी थी। अब परिषद् की 'कांग्रेस पार्टी' में विचारार्थ यह विषय रखा गया। पार्टी में भी बहुमत से पास हो गया कि राष्ट्रभाषा नागरी लिपि में लिखी हिन्दी होनी चाहिए। तब पं० जवाहरलाल नेहरू ने इच्छा प्रकट की कि यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अतएव, पार्टी में हिन्दी का पक्ष समर्थित हो जाने पर भी, ऐसी आज्ञा दी जानी चाहिए कि पार्टी का कोई भी सदस्य विधान-परिषद् में अपनी रुचि के अनुसार कोई भी पक्ष ग्रहण कर सके। नेहरू जी जो कुछ चाह रहे थे, वह पार्टी के सिद्धान्त तथा परम्परा के विरुद्ध चीज थी। फिर भी पार्टी ने उन की बात मान ली। यह बात सन् १६४८ के अन्त की है।

मेरठ-सम्मेलन

दिसम्बर १६४८ में सम्मेलन का अधिवेशन मेरठ में हुआ। सभापति चुने गये सेठ गोविन्द दास जी। इस अधिवेशन में माननीय श्री अनन्त शयनम् आयंगर, पं० कमलापति त्रिपाठी, पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा श्री के० एम० मुंशी, आदि कांग्रेसी नेताओं ने हिन्दी का जोरदार समर्थन किया। 'नवीन' जी ने तो यहाँ तक घोषणा कर दी कि "विधान-परिषद् में यदि हिन्दी के साथ अन्याय हुआ तो मैं विधान-परिषद् ही नहीं, कांग्रेस को भी छोड़ दूँगा।" इस से समझ सकते हैं कि राष्ट्र-भाषा किस स्थिति में अब तक पहुंच चुकी थी।

अफगान-मिशन और प्रो० रेणु

फरवरी तथा मार्च १९४९ में कुछ अचरज की वात हुईं, बड़े ही आनन्द की। इस से अचानक स्थिति पलट गयो। वहुत सम्भव है, मुझे तो निश्चय है कि इन बातों ने ही मौलाना आजाद तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू की विचार-धारा बदल दी। ये महान् नेता वहुत कुछ हिन्दी के पक्ष में हो गये। जो बात भारत की तीस करोड़ जनता वीसों वरस तक प्रयत्न करने पर भी अपने नेताओं को न समझा सकी, वही बात अफगानिस्तान तथा फ्रांस के विद्वानों ने अपने दो-चार भाषणों से ही इन के मन में वैठा दी। राष्ट्रभाषा के इतिहास में इन अफगानी और फ्रांसीसी विद्वानों का यह (१९४९ के प्रारम्भ का) भारत-भ्रमण स्वर्णाक्षरों में लिखा जाय गा।

इन दिनों अफगानी शिक्षा-विशारदों का शिष्ट-मण्डल भारत में भ्रमण कर रहा था। इस शिष्ट-मण्डल के सदस्यों ने भारत के अनेक विद्या-केन्द्रों में शिक्षा तथा भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए वार-बार यह बात कही कि "हमारे कावुल-विश्वविद्यालय ने प्रत्येक अफगान छात्र के लिए नागरी लिपि में संस्कृत भाषा का अध्ययन अनिवार्य कर दिया है। संस्कृत भाषा में अपेक्षित योग्यता प्राप्त किये विना वहां कोई भी छात्र उच्च (वी० ए०, एम० ए० जैसी) उपाधि पा नहीं सकता और फलतः वह राज-काज में किसी ऊँचे पद पर पहुंच ही नहीं

सकता।" ऐसा क्यों किया गया? इस प्रश्न पर उन्हों ने कहा—"हमारी पश्तो भाषा तथा उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालने वाली फारसी भाषा का उद्गम या मूल स्रोत संस्कृत है। सो, संस्कृत पढ़े बिना हम अपनी भाषा के अन्तस्तल में नहीं पहुँच सकते। भाषा में डुबकियाँ लगाये बिना हम अपनी संस्कृति तथा उस के दर्शन से दूर हटते जायँ गे और यही हमारी राष्ट्रीयता के विघात का मूल कारण हो गा। जागृत अफगान राष्ट्र ऐसी गलती न करे गा। इसी लिए उस ने संस्कृति को अपने विश्व-विद्यालय में अनिवार्य विषय बनाया है। केवल इञ्जिनियरिङ्ग या विज्ञापन की ऐसी ही किसी दूसरी शाखा में पढ़ने वाले छात्र ही इस से मुक्त हो सकते हैं।" उन्हों ने यह भी कहा—"हमारी पश्तो भाषा का सम्बन्ध फारसी से तो है भी; पर अरबी भाषा से तो हमारी भाषा का कोई सम्बन्ध नहीं है।"

अफगान विद्वानों के इन भाषणों का अवश्य ही अनुकूल प्रभाव हमारे नेताओं पर पड़ा हो गा। यही कारण है कि इस के बाद ही, मार्च महीने में ही, मौ० आजाद साहब के मुँह से वैसी (संस्कृतनिष्ठ) हिन्दी का प्रवाह निःसृत हुआ, जिस से लोग आनन्द-परिप्लुत हो गये।

मौलाना आजाद आदि नेताओं की मनोवृत्ति में परिवर्तन का एक और कारण फ्रांसीसी विद्वान प्रो० रेणु के वे भाषण भी हैं, जो उन्हों ने (फरवरी, १९४९ में) भारत-भ्रमण करते हुए

संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में दिये थे। प्रो० रेणु फ्रांस के एक विश्व-विद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर हैं। आप ने वार-वार, कई जगह, वहुत वल देकर यह बात कही कि 'भारत की राष्ट्र-भाषा संस्कृत होनी चाहिए।' इस में आप ने पर्य्याप्त युक्तियां दीं। इस से पहले वंगाल के गवर्नर श्रीमान् पं० कैलाशनाथ काटजू ने भी कितनी ही वार वहुत जोर देकर संस्कृत को राष्ट्रभाषा वनाने की वात कही थी। परन्तु काटजू साहव को लोग 'आखर विरहमन' समझ कर मुंह फेर लेते थे। वही वात प्रो० रेणु के मुँह से सुन कर लोग इसे कुछ गम्भीर रूप में लेने लगे। प्रो० रेणु ने गुरुकुल कांगड़ी में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—"यह इस देश (भारत) का सव से वड़ा दुर्भाग्य है कि उस की केन्द्रीय सरकार का शिक्षा-मंत्री एक ऐसा व्यक्ति है, जो संस्कृत भाषा से एकदम शून्य है।"

निःसन्देह प्रो० रेणु की यह कटु-सत्य उक्ति मौलाना आजाद के लिए औषध-रूप में परिणत हो गयी और उन का भाषा-सम्वन्धी वह भ्रम दूर हो गया, जिस के कारण संस्कृत को लोग 'विरहमनों की जवान' समझा करते थे। इसी का सुन्दर फल केन्द्रीय-असेम्वली के मार्च-अधिवेशन में प्रकट हुआ, जव मौलाना आजाद ने अपने विशुद्ध उच्चारण में 'भारतीय' 'केन्द्रीय' 'राजनीति' 'संस्कृति' आदि संस्कृत शब्दों का उच्चारण कर के अपनी भाषा को शुद्ध भारतीय रूप में प्रकट किया।

अफगान-मंडल तथा प्रो० रेणु के विचारों से पं० जवाहरलाल

नेहरू भी प्रभावित हुए और मार्च (१९४९) में ही उन्हों ने राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में एक लेख लिख कर प्रकाशित कराया। नेहरू जी का यह लेख सरकारी प्रकाशन तथा प्रचार विभाग द्वारा देश-विदेश में प्रचारित किया गया। भारत की सभी भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में यह लेख छपा; अंग्रेजी में तो छपना ही था। नेहरू जी पहले पहल इस लेख में हिन्दी के उतने निकट आये और पहले पहल भाषा के लिए संस्कृत को मूल स्रोत माना। संस्कृतनिष्ठ भाषा की ही नहीं, नागरी लिपि की भी प्रधानता उन्हों ने स्वीकार की; यद्यपि दबी जबान दूसरी (फारसी) लिपि को भी एकदम धक्का न देने की बात कह दी। इस समय तक देश के कई विश्वविद्यालयों ने तथा शिक्षा-संस्थाओं ने हिन्दी-नागरी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया है। इसका प्रभाव भी केन्द्रीय सरकार पर पड़ा होगा।

इस तरह, हम देखते हैं कि १९४९ के प्रारम्भ में ही राष्ट्र-भाषा तथा राष्ट्र-लिपि की समस्या प्रायः हल हुई दिखायी देने लगी। यह निश्चय होने लगा कि संस्कृत-निष्ठ हिन्दी ही देश की राष्ट्रभाषा हो गी और राष्ट्रलिपि नागरी। बड़ी बाधाएँ दूर हो गयी हैं। अब तो—

सवाल अब–तब का है!

विधान-परिषद् कब राष्ट्रभाषा पर विचार करती है, कब हिन्दी-नागरी को उस का नैसर्गिक अधिकार मिलता है; यही

देखना है। विधान-परिषद् इतने प्रबल बहुमत की उपेक्षा न करे गी; क्योंकि वह जनता पर ही आधारित है। इस तरह राष्ट्रभाषा की समस्या अब हल हुई ही समझी जाने लगी।

परन्तु यदि ऐसा न हुआ ? सम्भावना तो वैसी नहीं है; पर असम्भावित घटनाएँ भी तो घट जाती हैं ! सो, यदि विधान-परिषद् ने हिन्दी-नागरी को राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्र-लिपि घोषित न किया; या नागरी का दर्जा किसी विदेशी लिपि को भी साथ-साथ दे दिया,

तब क्या होगा ?

निःसन्देह तब सत्तारूढ़ दल अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारे गा ! राष्ट्रभाषा का प्रश्न बहुत गहरे चला गया है। यदि इस समय हिन्दी-नागरी की उपेक्षा हुई और इसे अनन्य प्रतिष्ठा न मिली, तो फिर अगला चुनाव राष्ट्रभाषा के आधार पर ही लड़ा जाय गा। तब वही दल विजयी हो कर प्रान्त तथा केन्द्र की राजकीय कुर्सियों पर आसीन दिखायी दे गा, जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा और नागरी को राष्ट्रलिपि बनाने के लिए, लिखित रूप में, सार्वजनिक रूप से, पहले ही प्रतिज्ञा-बद्ध हो गा। तब अपने आप नागरी-अंकित हिन्दी राष्ट्रभाषा बने गी। गंगा जी तो आयेंगी ही ; यश भगीरथ न लें गे, तो किसी दूसरे को मिले गा। जहाँ तक हम राष्ट्रभाषा-सेवकों का सम्बन्ध है, हम समझते हैं कि युद्ध में हम विजयी हो चुके हैं और अब हिन्दी के राज्याभिषेक

का मुहूर्त दूर नहीं है। बहुत जल्दी हिन्दी राष्ट्रभाषा बने गी। राष्ट्रभाषा तो वह स्वतः बन चुकी है; केन्द्रीय सरकार की राज-भाषा हो गी। अब हिन्दी-राष्ट्रभाषा का आन्दोलन उस स्थिति में है, जिस स्थिति में राष्ट्रीय स्वातंत्र्य का आन्दोलन अब से तीन वर्ष पहले (सन् १९४६ में) था। जैसे अंग्रेज जाते-जाते भी कुछ न कुछ रचते रहे और हमारे राष्ट्र को उलझनों में डालते रहे; ठीक उसी तरह विदेशी तत्त्वों से पूर्ण भाषान्तर का चक्र घूम रहा है! अब भी 'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों ने हिम्मत नहीं हारी है; ढंग बदल दिया है। जैसे अंग्रेज कहने लगे थे कि हिन्दुस्तान को स्वतंत्रता देना हम भी चाहते हैं; और करनी में वे चूकते न थे; ठीक उसी तरह अब नागरी लिपि तथा संस्कृत-स्रोत का समर्थन कर के भी लोग काम उलटे ही कर रहे हैं। इसी अप्रैल (१९४५) में पं० जवाहरलाल नेहरू का जो वह राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी लेख छपा और लन्दन-सम्मेलन जाने से पहले जो उन्हों ने भाषा-सम्बन्धी चर्चा की, उस में हिन्दी का समर्थन तो किया; पर कुछ ऐसी बातें भी कहीं, जिन से अहिन्दीभाषी प्रान्तों के भड़कने का अन्देसा था! उन्हों ने कहा—

१—राष्ट्रभाषा जनता पर लादी नहीं जा सकती, कानून के द्वारा राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती।

२—प्रान्तीय भाषाओं को दबा कर उन की अभिवृद्धि को रोका नहीं जा सकता।

३—हमें विभिन्न सम्प्रदायों की भाषा तथा संस्कृति का सम्मान करना हो गा।

इन बातों के उत्तर अहिन्दी-भाषा-भाषी जनों ने ही दिये। मद्रास के प्रो० राममूर्ति, बंगाल के सुप्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, गुजरात के श्री के० एम० मुंशी आदि ने उद्घोपित किया कि हिन्दी को हमारे ऊपर कोई लाद नहीं रहा है; हम ने स्वतः उसे सिर-माथे लिया है।

वस्तुतः ये ऐसी बातें थीं, जिन से हिन्दी के प्रति एक विद्रोह खड़ा हो सकता था। परन्तु ऐसा न हो कर उलटे इस की शक्ति और बढ़ी, हिन्दी के प्रति और अधिक निष्ठा जागृत हुई। ऊपर की तीनों बातें आधार-रहित थीं।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को कभी भी किसी ने किसी पर लादा नहीं है। राजसत्ता ने इस देश पर फारसी को लाद दिया था। उर्दू भी लादी गयी। अंग्रेजी भाषा तो अब तक लदी है। राजसत्ता का आश्रय न रहने पर फारसी उठ गयी; उर्दू जैसी हिन्दी की विदेशी शैली भी टिक नहीं सकती। 'हिन्दुस्तानी' को जनता ग्रहण ही नहीं कर रही है; यद्यपि राज-सत्ता ने उसे जनता पर लादने के लिए कोई कसर उठा नहीं रखी है। अंग्रेजी भाषा भी कानून के बल पर ही लदी है। परन्तु हिन्दी कभी इस तरह न लादी गयी, न लदी ही! सदियों पहले

गुजरात के नरसी भक्त के ऊपर किस ने हिन्दी लादी थी कि उन्हें अपनी वाणी हिन्दी बनानी पड़ी ? सिख-गुरुओं पर हिन्दी किस ने लादी थी, जिन्हों ने पंजावी जनता को भी हिन्दी पद्यों में उपदेश दिया ? बंगाल में राजा राम मोहन राय पर कांग्रेस का प्रभाव पड़ा था, या सम्मेलन का, या अंग्रेजी राज्य का ? उन्हों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का उपक्रम क्यों किया ? स्वामी दयानन्द सरस्वती की मातृभाषा गुजराती थी। उन्होंने अपना मुख्य ग्रन्थ हिन्दी में क्यों लिखा ? उन्हों ने प्रत्येक आर्य को हिन्दी सीखने का उपदेश क्यों दिया ? क्या उन के ऊपर हिन्दी को किसी ने लाद दिया था ? 'सम्मेलन' का जन्म भी तब तक न हुआ था, जब पंजाब में लाला (वाद में महात्मा) हंसराज जी तथा महात्मा मुंशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी ने हिन्दी का प्रचार उस स्फूर्ति के साथ किया था। 'सम्मेलन' के जन्म से पहले ही बंगाल में जस्टिस शारदाचरण मित्र और श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी जैसे मनस्वी विद्वानों ने हिन्दी-नागरी के सार्वदेशिक प्रचारार्थ वह उतना बड़ा आन्दोलन चलाया था। लोकमान्य तिलक तथा उन के साथी श्री माधव-राव सप्रे आदि महाराष्ट्र-नायकों के ऊपर किस ने हिन्दी लाद दी थी ? महात्मा गान्धी ने मद्रास-जैसे प्रान्त में हिन्दी का वह जो प्रचार किया था, सो किस के दबाव से ? मद्रास के बुद्धि-वादी जनों ने किस दबाव से हिन्दी को ग्रहण किया था ? क्या हिन्दी उन पर लादी गयी थी ? इस प्रकार सदियों से देश की जनता ने जिस हिन्दी को स्वतः ग्रहण किया और राष्ट्रभाषा

का रूप दिया, उसे यदि सरकार कानून के द्वारा राजभाषा का पद दे दे, तो जन-मन का अनुवर्तन हो गा या। उस के ऊपर कोई 'बोझ लादना' वह कहा जायगा ?

प्रान्तीय भाषाओं को दबाने की तो कोई बात ही नहीं है। 'सम्मेलन' ने बार-बार यह स्पष्ट किया है कि प्रान्तीय भाषाएँ अपने-अपने क्षेत्र में फलें-फूलें गी और प्रान्तीय राजभाषाएँ बनें गी। हिन्दी को तो अन्तर-प्रन्तीय व्यवहार का माध्यम स्वीकार करना ही राष्ट्रभाषा-आन्दोलन का फल है और जब अंग्रेजी भाषा के लदे रहने से प्रान्तीय भाषाएँ नहीं दबीं, तब हिन्दी से क्या दबें गी ? हिन्दी के सहयोग से तो वे अत्यधिक विकसित हों गी। हाँ, यदि राष्ट्रभाषा के नाम पर उन के सिर उर्दू (हिन्दुस्तानी) लाद दी गयी, तो अवश्य उन्हें वह असह्य हो गी; क्योंकि भारत की प्रत्येक भाषा संस्कृतनिष्ठ है। और तो और, पश्चिमी पंजाब में भी, कोई पक्का मुसलमान भी, गधे के 'बच्चे' को भी 'पुत्तर' (पुत्र) कहता है—'खोते दा पुत्तर' ! इस समय, मुस्लिम लीगी राज्य में और राजभाषा उर्दू होने पर भी वहाँ 'पुत्तर' ही चलता है। मुसलमान अपने बच्चों से कहता है—'ना पुत्तर, ना ! उत्थे ना जाईं।' बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्कल, मदरास आदि की (प्रान्तीय) भाषाओं में तो अस्सी प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। वे फारसी-अरबीके अटपटे और अश्रुतपूर्व शब्दों को हजम न कर सकें गी।

इस लिए, उनपर 'हिन्दुस्तानी' लादना अन्याय है। हिन्दी को

तो उन्हों ने स्वतः ग्रहण किया है। अहिन्दी भाषी मनस्वी नायकों ने ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना ने का आन्दोलन पहले चलाया। वे जानते थे और उन के वंशज अब भी जानते हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा बन जाय, तो सब की हित है।

विभिन्न सम्प्रदायों की भाषा और संस्कृति अलग नहीं हुआ करती है। चोन के बौद्धों और मुसलमानों की भाषा तथा संस्कृति एक ही है, मत-मजहब भिन्न हैं। चीन के मुसलमान अपने नाम अरबी-फारसी भाषा में अबुल बकर, इकबाल अहमद, रफी अहमद आदि नहीं रखते। चीनी मुसलमानों के भी नाम चीनी भाषा में ही 'ची पू ते' आदि होते हैं। उन का पहनाव। आदि भी एक ही तरह का होता है। अटकानों ठीक नहीं है। राष्ट्रीयता में सम्प्रदाय का अटकानों ठीक नहीं है। इस का फल अच्छा नहीं होता। साम्प्रदायिकता का विष फैलने-फैलाने से राष्ट्र निर्जीव हो जाता है। देश की भाषा होती है, प्रान्त की भाषा होती है। देश की संस्कृति होती है, प्रान्त की संस्कृति होतो है। परन्तु एक देश या एक प्रांत में विभिन्न सम्प्रदायों की भाषा तथा संस्कृति में विभिन्नता नहीं हुआ करती; नहीं होनी चाहिए। जो लोग इस देश में रहते हुए अरब तथा ईरान की संस्कृति में डूबे रहते हैं, उनकी राष्ट्रीयता में सन्देह की गुंजाइश है। यहां एक बहुत बड़ा सम्प्रदाय ऐसा है, जो राम, कृष्ण और अर्जुन को अपना पूर्वज नहीं मानता। इस सम्प्रदाय के लोग अरब और ईरान के पुरखों को अपना पुरखा मानते हैं।

तब इस देश से उन की ममता कैसे ? गोद आया हुआ बच्चा भी उसी को अपना पिता मानने लगता है, जिस की सम्पत्ति का अधिकारी होता है। परन्तु भारतीय मुसलमान अब भी अपना पृथकत्व रखता है और आश्चर्य की बात यह है कि उस की इस मनोवृत्ति को 'राष्ट्रीय' तत्त्वों से पोषण मिलता है।

सो, किसी सम्प्रदाय की भाषा और संस्कृति की भिन्नता स्वीकार करना राष्ट्रीयता का विघात है।

इस समय कुछ अजीब बातें हो रही हैं। परन्तु इस में सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय प्रवाह किसी के रोके रुके गा नहीं। हिन्दी राष्ट्रभाषा बन चुकी है; केवल राजकीय स्वीकृति भर प्राप्त करना है।

नेहरू जी ने जो कुछ कहा, उस के आधार पर श्री गोविन्द सहाय जैसे छोटे नेता तथा कुछ कम्यूनिस्टों ने भी चिल्लाना शुरू कर दिया है कि हिन्दी लादी जा रही है ! वस्तुतः ये सब जानते हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गी; केवल इस लिए बहकी-बहकी बातें करते हैं कि अगले चुनाव में एक बड़े सम्प्रदाय के वोट पाने की लालसा है। उसी लालसा में प्रायः सभी राजनैतिक पार्टियाँ उ .झ रही हैं।

'सम्मेलन' और 'जमैय्यत'

अफगानी शिष्ट-मण्डल तथा फ्रांस के प्रो० रेणु ने अपने

भारत-भ्रमण के अवसर पर जो संस्कृत के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये, उन का असर पं० जवाहरलाल नेहरू पर तथा मौलाना अबुल कलाम आजाद पर पड़ा था और क्रियात्मक रूप से ये ठीक रास्ते पर आते दिखाई दिये थे; परन्तु राजनीति के दाव-पेंच खेलने वाले जो कुछ करते हैं, सब की समझ में आता नहीं है! अप्रैल १९४९ के उत्तरार्द्ध में युक्त प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का जो अधिवेशन लखनऊ में हुआ उस में स्वागताध्यक्ष ने पं० नेहरू को ससम्मान निमंत्रित किया। प्रान्तीय सम्मेलनका पं० नेहरू पर अधिक अधिकार होना चाहिए, क्योंकि उन का आनन्द-भवन इसी प्रान्त में है, जहाँ वे खेले-कूदे हैं। नेहरू जी को अधिवेशन में सम्मिलित होने को फुर्सत न मिली, तब एक 'सन्देश' ही भेज देने के लि प्रार्थना की गयी। इस प्रार्थना का उत्तर नेहरू जी ने नहीं, उन के प्राइवेट सेक्रेटरी ने स्वगताध्यक्ष को भेजा कि 'माननीय नेहरू जी को अन्य महत्त्व पूर्ण कामों से इतनी फुर्सत नहीं कि आप के सम्मेलन को वे सन्देश भेज सकें।' सन्देश में 'शुभ कामना, सफलता चाहता हूं' इतना भी पर्य्याप्त था; सो भी नेहरू जी को न लिखना पड़ता। उन्हें केवल हस्ताक्षर भर कर देने थे। सो, इस के लिए भी समय नहीं!

परन्तु, ठीक इसी समय, लखनऊ में ही 'जमायत-उल-उलेमा' का भी जलसा हुआ। नेहरू जी ने इस 'जमायत' के लिए लम्बा-चौड़ा सन्देश भेजा, जो सगर्व वहाँ सुनाया गया और

छपा, सब जगह। ध्यान देने की बात है कि भारत-विभाजन के बाद 'जमायत' ने इस्लाम के नाम पर पृथक् संस्कृति तथा उर्दू भाषा पर अत्यधिक जोर दिया है, जिस से विचारशील लोग भी कहने लगे हैं कि 'जमायत' 'लीग' का रूप ले रही है। 'सम्मेलन' जैसी राष्ट्रीय संस्था से दूर भागना और जमायत जैसी साम्प्रदायिक संस्थासे चिपटना पं० नेहरू की चित-वृत्ति का परिचायक है !

सन्तोष भी, असन्तोष भी !

जून (१९४९) का प्रारम्भ अत्यन्त मङ्गलमय हुआ। भारत में कई जगह हिन्दी में तार भेजने की व्यवस्था हुई। नागरी लिपि में हिन्दी भाषा का यह उदय देख कर जनता के हृदय खिल उठे। इसी समय एक और सुन्दर काम हुआ। केन्द्रीय सरकार ने राज्य-चिह्नों में 'सत्यमेव जयते' अङ्कित कराने की व्यवस्था की। नागरी लिपि में यह संस्कृत वाक्य राज-चिह्न के रूप में देख कर तो हमारी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा ! इन बातों से आशा हुई कि सरकार ठीक रास्ते पर आ रही है।

परन्तु, इस के साथ ही, ठीक इसी समय इस के विपरीत भी घटनाएँ घटीं। विधान-परिषद् के कई सदस्यों का चालान दिल्ली-पुलिस ने इस लिए कर दिया कि उन की कारों पर हिन्दी में अङ्क आदि थे ! इस 'अपराध' में माननीय सदस्यों को अदालती सजा भी (जुर्माने की) मिली ! इस की शिकायत संविधान-परिषद् के अध्यक्ष श्री राजेन्द्र प्रसाद जी से की गयी

और उन्हों ने इस पर कार्रवाई करने का आश्वासन दिया।

इसी समय असन्तोष तथा रोष का वेग इस कारण भी बढ़ा कि केन्द्रीय सरकार ने नये सिक्कों पर नागरी-हिन्दी को उचित स्थान नहीं दिया और उर्दू-फारसी के साथ इसे एक कोने में फेंक दिया! मांग हुई कि भारतीय सिक्कों पर नागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा को प्रमुख रूप से स्थान मिलना चाहिए।

इसी महीने की ३० तारीख को दिल्ली में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की 'स्थायी समिति' की जरूरी बैठक हुई, जिस में निश्चय हुआ कि जुलाई के प्रथम या द्वितीय सप्ताह में (दिल्ली में) एक अखिल भारतीय विद्वत्सम्मेलन निमंत्रित किया जाय— अहिन्दी भाषी प्रान्तों के उच्च कोटि के विद्वान् आमंत्रित किये जायँ, राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी समस्या पर विचार करने के लिए। इस अखिल भारतीय विद्वत्परिषद् का नाम 'राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद्' निश्चित हुआ ; क्योंकि राष्ट्र की अहिन्दी-भाषी जनता का निर्णय राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में लेना था। खर्च के लिए निश्चय हुआ कि लगभग पन्द्रह हजार रुपये अपेक्षित हैं; जो केन्द्रीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति तथा दिल्ली-प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन पर बराबर-बराबर डाल दिया जाय। निश्चय हुआ कि समागत विद्वानों का स्वागत-सत्कार उच्च कोटि का हो और उन्हें प्रथम श्रणी का रेल-भाड़ा आने-जाने का भेंट किया जाय। मदरास तथा आसाम आदि

से आने वाले विद्वानों को हवाई जहाज का भाड़ा दिया जाय, यह भी तै हुआ।

इस परिषद् की तिथि ऐसी रखी गयी, जो विधान-परिषद् के अनुकूल पड़ती थी। परन्तु विधान-परिषद् के अधिवेशन की तिथि आगे बढ़ा दी गयी। तब राष्ट्रभाषा-व्यवस्था-परिषद् की तिथि भी आगे बढ़ा कर ६ तथा ७ अगस्त कर दी गयी; क्योंकि ५ अगस्त को विधान परिषद् की कांग्रेस पार्टी की बैठक राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी निर्णय के लिए होने को थी।

इस परिषद् की जरूरत इस लिए पड़ी कि 'भाषा सम्बन्धी साम्राज्यवाद' शब्द चलाकर यह कहा जाने लगा था कि हिन्दी भाषी लोग अहिन्दी-भाषी जनता पर जबर्दस्ती हिन्दी लाद रहे हैं! इस आक्षेप का क्रियात्मक उत्तर देने के लिए ही 'राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद्' की जरूरत पड़ी।

राष्ट्रभाषा-व्यवस्था-परिषद्

ता० ६ तथा ७ अगस्त को नई दिल्ली में राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद् का महत्त्व पूर्ण अधिवेशन श्री एन० एन० गोडबोले महोदय के सभापतित्व में हुआ। इस में बंगाली, आसामी, तेलगू, तामिल, कन्नड़, गुजराती, मराठी, काश्मीरी, पंजाबी आदि प्रमुख भारतीय भाषाओं के मान्य विद्वानों ने भाग लिया। परिषद् के मंच पर अहिन्दी-भाषी विद्वानों का ही अधिकार था। हिन्दी-

भाषी जन अलग थे. यहां तक कि राजर्षि टंडन जी भी मंच पर न थे, सामने दर्शकों में बैठे थे। विधान-परिषद् के सदस्य, राष्ट्र के नेता और विद्वान् तथा उच्च कोटि के पत्रकार अपने-अपने स्थान पर यह सुनने को उत्सुक थे कि देखें, ये विद्वान् राष्ट्र-भाषा के सम्बन्ध में क्या निर्णय देते हैं! परिषद् में भाग लेने वाले अधिकांश विद्वान्, विशेषतः दाक्षिणात्य, ऐसे थे, जो हिन्दी बोल न सकते थे; बल्कि समझ भी न सकते थे! उन की सुविधा के लिये सभा का संचालन अंग्रेजी भाषा द्वारा ही हुआ! भाषण हिन्दी में भी हुए और बंगला, संस्कृत, पञ्जाबी तथा मलयालम में भी. परन्तु सभी वक्ताओं ने एक स्वर से राष्ट्रभाषा-पद के लिए हिन्दी का तथा राष्ट्रलिपि-पद के लिए 'नागरी' का समर्थन किया। दूसरे दिन, ता० ७ को विषय-निर्वाचिनी समिति में पर्याप्त विचार-मन्थन के बाद प्रस्ताव तय्यार किया गया, जिस में सरकार से माँग की गयी कि वह नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करे। इस प्रस्ताव के साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि हिन्दी का विस्तार इस तेजी से होना चाहिए कि अधिक से अधिक दस वर्षों में अंग्रेजी का स्थान पूर्ण रूप से हिन्दी को मिल जाय! परिषद् ने प्रान्तीय शिक्षा तथा राज-काज के लिये प्रांतीय भाषाओं का पूर्ण अधिकार स्वीकार किया और केन्द्रीय सरकार के कामों के लिए राष्ट्र-भाषा हिन्दी का समर्थन किया। परिषद् ने सरकार से यह भी माँग की कि वह अपने विदेश-विभाग में अविलम्ब हिन्दी चलावे, जो अंग्रेजी का स्थान ले। इस का मतलब यह कि

विदेशों में हमारे जो राजदूत हैं उन का सब काम-काज हिन्दी के द्वारा हो और इस में किंचित् भी देरी लगाने की जरूरत नहीं है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस परिषद् ने राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी निर्णय सर्वसम्मति से दिया। प्रस्ताव तैयार करने वाले, उस पर विचार करने वाले, उसे उपस्थित करने वाले और समर्थन करने वाले सब अहिन्दीभाषी ही थे।

निःसन्देह यह परिषद् राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी आन्दोलन के इतिहास में अभूतपूर्व चीज थी और उस आक्षेप का बहुत सुन्दर उत्तर था कि हिन्दी वाले दूसरों पर जबर्दस्ती हिन्दी लादना चाहते हैं। संसार के इतिहास में कोई दूसरा उदाहरण ऐसा नहीं है, जहां इतने भिन्न-भाषा-भाषी विद्वानों ने मिल कर एक राष्ट्रभाषा का निर्णय किया हो, 'अपनी' सरकार की 'नीति' का सामना करते हुए !

'परिषद्'-निर्णय का प्रभाव

'राष्ट्रभाषा-व्यवस्था-परिषद्' के निर्णय का प्रभाव राष्ट्र पर उतना ही पड़ा, जितना सम्भावित था। केन्द्रीय सरकार के प्रमुख अङ्ग भी खुले। लोगों ने देखा—'कोठे के रहने वाले जीने पे आ रहे हैं, धीरे-धीरे सब करीने पे आ रहे हैं।' आएँ गे नहीं, तो जाएँ गे कहाँ ? राष्ट्र का निर्णय अमान्य

कर के (राष्ट्र में) रह कौन सकता है ? मौलाना अबुल कलाम आजाद ने भी ता० १० अगस्त को राष्ट्रलिपि के लिए एकमात्र नागरी को मान्य घोषित कर दिया। १५ अगस्त के स्वातन्त्र्य समारोह पर प० जवाहर लाल नेहरू ने और डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने भी केवल नागरी का समर्थन किया। परन्तु—'परन्तु' फिर भी सामने ! सब ने कहा—'परन्तु राष्ट्रभाषा सर्वमान्य ऐसी होनी चाहिए जिस में दूसरी भाषाओं से आने वाले शब्दों पर कोई रोक न हो।' दूसरी भाषाओं से मतलब स्पष्टतः अरबी-फारसी से है। अर्थात् लिपि नागरी और भाषा हिन्दुस्तानी ! यानी इतने संघर्ष के बाद यह माना गया कि देश पर उलटी लिपि लादना ठीक नहीं है—नागरी लिपि ही रहे। इस तरह, इतना प्रभाव तो सामने तुरन्त आया। शेष भी स्पष्ट हो जाय गा। मौलाना आजाद ने यह स्पष्ट कह दिया कि देश का बँटवारा हो जाने पर उर्दू का दावा समाप्त हो चुका है ! परन्तु स्पष्टतः 'हिन्दी' का समर्थन न मौलाना ने किया, न नेहरू जी ने और न डा० राजेन्द्र प्रसाद जी ने। किन्तु, अब उन्हों ने 'हिन्दुस्तानी' का नाम लेना भी बन्द कर दिया। कहा यह जाने लगा है कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी नाम में क्या रखा है ! नाम का झगड़ा ठीक नहीं। परन्तु जब उन से कहा जाता कि नाम का झगड़ा व्यर्थ है, तो स्पष्ट ही हिन्दी को मान क्यों नहीं लेते, तो चुप हो जाते हैं। यह भी कहा जाने लगा कि भाषा का नाम न हिन्दी, न हिन्दुस्तानी—'भारती' नाम रख दो और देश का नाम 'भारत'। भारत की भाषा भारती ; जैसे ईरान की ईरानी

और जापान को जापानी। परन्तु यह स्पष्ट कर दिया जाय कि हिन्द का नाम भारत और हिन्दी का नाम भारती किया जा रहा है। परन्तु वे लोग इस सुझाव को भी नहीं मान रहे हैं। कहा गया कि देश का नाम 'हिन्दुस्तान' नहीं रखा ; इस लिए कि इस में 'हिन्दू' शब्द विद्यमान है और यह नाम साम्प्रदायिक हो गा ; इसी लिए देश को 'हिन्द' कहते हैं ; तब फिर भाषा का असाम्प्रदायिक नाम 'हिन्दी' क्यों नहीं रखते ? 'साम्प्रदायिक' नाम 'हिन्दुस्तानी' क्यों रख रहे हो ? इस का भी कोई जवाब नहीं !

राजस्थान की अग्रगामिता

ता० १५ अगस्त १६४६ को 'राजस्थान' राज्य-संघ ने बड़ी तेजस्विता का परिचय दिया, जब कि संघ के राजप्रमुख (जयपुर-नरेश) ने एक आर्डिनंस पर हस्ताक्षर कर के यह घोषित किया कि "राजस्थान हाई कोर्ट की भाषा हिन्दी और लिपि नागरी हो गी। हाई कोर्ट का सब काम नागरी-हिन्दी में हो गा।" भारतवर्ष में यह पहली ही घोषणा इस प्रकार की समझिए। इस से पहले—अब तक—अन्य किसी भी प्रान्तीय या प्रादेशिक (संघीय) सरकार ने अपने हाई कोर्ट की भाषा हिन्दी नहीं रखी है—युक्तप्रान्तीय सरकार ने भी नहीं! निःसन्देह राजस्थान सरकार को, सरकार के राजप्रमुख महोदय (जयपुर-नरेश) को इस ओजस्वी काम से अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ है। मार्ग-प्रदर्शन करना बड़ी चीज है।

दिल्ली की महाराष्ट्र-परिषद्

दिल्ली के मराठों ने अपनी एक परिषद् बना रखी है—महाराष्ट्र-परिषद्। इस परिषद् ने स्वातंत्र्य-दिवस का तीसरा समारोह धूमधाम से मनाया और पं० जवाहरलाल नेहरू को आमंत्रित किया। इस समारोह में एक कलात्मक प्रदर्शन राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में भी हुआ। एक महिला ने 'भारत माता' का रूप धारण किया। अन्य महिलाएँ प्रादेशिक भूमिका में सामने आयीं। बंगाली, मराठी, द्राविड़ी, गुजराती और पंजाबी आदि विभिन्न वेश-भूषा पहने प्रान्त-माताएँ) 'भारत माता' का अर्चन करने आगे बढ़ीं। एक बुर्का-धारिणी (उर्दू) भी थी, न जाने किस प्रदेश की अधिष्ठात्री! सब ने भारत-माता पर पुष्पवर्षा की और सिर झुका कर प्रणाम किया। सब ने बारी बारी से अपने प्रान्त की भाषा (बंगाली, गुजराती आदि) को राष्ट्रभापा के रूप में स्वीकार करने का अग्रह किया—उर्दू-माता ने भी अपना पक्ष रखा। परन्तु 'भारतमाता' ने अत्यन्त वात्सल्य से सब को समझा कर कहा—'हम ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को और राष्ट्रलिपि के रूप मे' नागरी को स्वीकार कर लिया है और इसी से तुम्हारा कल्याण हो गा, सुख-वैभव बढ़े गा।'

'भारत माता' की यह आज्ञा सभी प्रान्तीय माताओं ने सिर झुका कर स्वीकार की और प्रसन्नतापूर्वक एक बार पुन पुष्पवर्षा की। उर्दू-माता भी चुप रही; उस ने भी विरोध नहीं किया। 'हिन्दुस्तानी' ने भी सिर झुका दिया।

महाराष्ट्र-परिषद् का यह कलात्मक प्रदर्शन अत्यन्त प्रभावोत्पादक रहा। मालूम नहीं, पं० जवाहरलाल नेहरू पर इस का क्या प्रभाव पड़ा ! उन्हों ने कुछ कहा नहीं !

ऐसा जान पड़ता है कि ६-७ अगस्त को दिल्ली में जो अखिल भारतीय राष्ट्रभाषाव्यवस्था परिषद् हुई थी और उस में जो निर्णय हुआ, उसी को मूर्तिमान् रूप में पं० जवाहरलाल नेहरू को महाराष्ट्र-महिलाओं ने दिखाने का यत्न किया था, क्यों कि नेहरू जी उस महापरिषद् में पधारे न थे। अवश्य ही ऐसे प्रदर्शन अत्यधिक प्रभाव रखते हैं और अचूक प्रभाव रखते हैं।

मध्यप्रान्त में प्रगति

ता० २० अगस्त (१९४९) के दिन मध्यप्रान्तीय असेंबली के माननीय अध्यक्ष श्री घनश्याम सिंह गुप्त ने एक आज्ञा निकाली कि असेंबली का सब काम हिन्दी में ही हो गा और नागरी लिपि में। हिन्दी के साथ-साथ मराठी में भी कागज-पत्र (प्रश्न आदि) लिये जा सकें गे ; परन्तु अन्य (अंग्रेजी, उर्दू आदि) किसी भी भाषा में लिखे कागज-पत्र असेंबली में गृहीत न हों गे।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ

'राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ' के सर संचालक, माननीय श्री माधव राव सदाशिव राव गोलवलकर (गुरु जी) ता० २१ अगस्त को दिल्ली पधारे। आप का स्वागत बड़े ही समारोह से सम्पन्न

हुआ। उसी दिन, सायंकाल दिल्ली के रामलीला-मैदान में एक बहुत बड़ी सभा हुई, जिस में पांच लाख से अधिक जनता उपस्थित थी। इस सभा में माननीय गोलवलकर महोदय ने राष्ट्रभाषा की समस्या पर बोलते हुए कहा —

"निःसन्देह इस राष्ट्र की विविध समस्यओं में एक समस्या राष्ट्रभाषा की भी है। परन्तु हमारी राष्ट्रभाषा सुनिश्चित रूप से हिन्दी है। हमें आश्चर्य है कि ऐसी असन्दिग्ध तथा निश्चित चीज को भी विवाद का विषय बना कर एक समस्या का रूप दे दिया गया है, जिस में राष्ट्र की शक्ति उलझ कर व्यर्थ जा रही है। हिन्दी राष्ट्रभाषा-पद पर अवश्य आसीन हो गी ; तब उस की घोषणा में देर करना बुद्धिमानी का काम नहीं है।"

अब पहाड़ हिला, परन्तु······!

इन सब घटनाओं से पहाड़ हिला —कांग्रेस के दिग्गज नेता हिन्दी के पक्ष में बोलने लगे। परन्तु अब यह कहा जाने लगा— राष्ट्रभाषा हिन्दी हो और राष्ट्रलिपि नागरी, परन्तु अङ्क रोमन स्वीकार कर लिये जायँ, जो अरबी अंकों के रूपान्तर हैं।

श्री के एम० मुन्शी तथा श्री गोपाल स्वामी आयंगर का भाषा-सम्बन्धी यह नया शिगूफा छोड़ा गया! राजर्षि टण्डन तथा सेठ गोविन्द दास जी ने इस का कड़ा विरोध किया और नागरी अंकों (१, २, ३ आदि) को ही ग्रहण करने का जोरदार समर्थन किया।

अरबी से लिए गये रोमन (अंग्रेजी) अंक हिन्दी में भ्रामक हो सकते हैं और इन पर परदेशी छाप भी है। अकारण इन अंकों को ग्रहण करने का जब अचानक वैसा जोर उमड़ पड़ा, तो राष्ट्रवादियों को और भी शंका बढ़ी। बुढ़िया के मर जाने का उतना डर नहीं; पर जमराज घर जो देख जायँ गे; यह बड़ा खतरा। आगे प्रत्येक बात में अनावश्यक रूप से अराष्ट्रीय तत्त्वों का पक्षपात किया जा सकता है, एक उदाहरण से। यह एक सिद्धान्त की चीज समझी गयी और यही कारण है कि इस पर दोनो पक्ष अड़ गये। पं० जवाहर लाल नेहरू को आगे कर के प्रायः सम्पूर्ण 'सरकारी' दल अरबी-रोमन अंकों का समर्थक और राजर्षि टण्डन तथा अन्य राष्ट्रवादी जन हिन्दी-संस्कृत अंकों के समर्थक। 'सरकारी' पक्ष में इन रोमन अंकों को 'भारतीय' भी कहा जाने लगा। कहा गया 'अन्तर-राष्ट्रीय भारतीय अंक (रोमन) ग्रहण किये जायँ! यानी भारतीय अंक ही रूपान्तरित हो कर अरब गये और वहाँ से आगे के रोमन अंकों के रूप में बदल गये। सो, रोमन अंक भारतीय ही हैं, इन्हें ग्रहण कर लो।' राष्ट्रीय जन कहते हैं कि हम विशुद्ध भारतीय अंक ही ग्रहण करें गे, उस तरह विदेशों में विद्रूप अंक हम क्यों ग्रहण करें ?

सरकारी पक्ष ने हिन्दी के एक-दो बहुत बड़े समर्थकों को भी अपनी ओर कर लेने में सफलता प्राप्त कर ली। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री कन्हैया लाल माणिक लाल मुन्शी

को भी अरबी-रोमन वालों ने अपनी ओर कर लिया और 'मुन्शी' जी अरबी-रोमन अंकों के समर्थक हो गये ! 'मुन्शी-आयंगर मसविदा' राष्ट्रभाषा के बारे में प्रस्तुत हुआ, जिस में कहा गया—

१—नागरी लिपि में हिन्दी राष्ट्रभाषा हो और अन्तर-राष्ट्रीय भारतीय (रोमन) अंक राष्ट्रभाषा में गृहीत हों ।

२—पन्द्रह वर्ष तक अंग्रेजी ही केन्द्रीय सरकार की भाषा रहे।

३—नया विधान लागू होने के पाँच वर्ष बाद एक कमीशन नियुक्त किया जाय, जो हिन्दी की गति-विधि के बारे में अपनी सिफारिशें करे। इस सिफारिश-कमीशन की सिफारिशों की जाँच करने के लिए पार्लमेंट एक समिति नियुक्त करे और तब उचित सिफारिशों पर सरकार ध्यान दे, उन पर अमल करे।

इस के दस वर्ष बाद अर्थात् विधान लागू होने के पन्द्रह वर्ष बाद फिर एक कमीशन तथा समिति नियुक्त की जाय और उन की सिफारिशें ली जायँ।

४—पन्द्रह वर्ष बाद भी अंग्रेजी भाषा ही उन महकमों में चलती रहे, जिन में उस का चलते रहना पार्लमेंट को जरूरी जान

पड़े। हाँ, राष्ट्रपति को यह अधिकार रहे कि वे पन्द्रह वर्ष के भीतर भी कहीं हिन्दी में भी काम होने की आज्ञा दे सकें।

५—पन्द्रह वर्ष तक देश भर की असेम्बलियों में सब काम अंग्रेजी भाषा में ही किया जाय। इस अवधि में सभी अदालतों का तथा हाई कोर्टों का काम अंग्रेजी भाषा में ही हो। (अर्थात् युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त तथा राजस्थान आदि को पीछे लौटना हो गा।)

६—राष्ट्रपति को यह अधिकार हो गा कि वे किसी भी प्रान्त में कोई ऐसी प्रादेशिक भाषा भी उस प्रान्त में राजभाषा के रूप में जारी करा सकें गे, जिस के बोलने-समझने वाले उस प्रान्त में काफी लोग हों।

[प्रादेशिक भाषाओं में अंग्रेजी और उर्दू भी रखी गयी ; पर यह नहीं बताया गया कि ये किस प्रदेश की भाषाएँ हैं। यानी युक्तप्रान्त, राजस्थान आदि हिन्दी-प्रान्तों में राष्ट्रपति अपने अधिकार से उर्दू चला सकें गे और किसी प्रान्त में अंग्रेजी भी। यही नहीं, आगे ऐसा कर दिया गया कि पांडिचेरी आदि में फ्रेञ्च भाषा तथा गोवा में पुर्तगाली भाषा भी, उन प्रदेशों की अपनी-अपनी भाषाओं के साथ, राष्ट्रपति चला सकें गे।]

७—प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार से तथ प्रान्तीय सरकारों

से अपना सब पत्र-व्यवहार केवल अंग्रेजी भाषा में ही पन्द्रह वर्ष तक करें, (बाद में देखा जाय गा)।

इस तरह नेहरू-दल ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया !

राष्ट्रवादी दल में इस मसविदे से खलबली मच गयी। इस पर विचार करने के लिए ता॰ २६ अगस्त १६४६ को विधान-परिषद् की—

कांग्रेस-पार्टी की बैठक

बुलायी गयी। सब से पहले अंकों का प्रश्न उठा। नेहरू जी इस से पूर्व कई दिन तक पार्टी के सदस्यों को रोमन अंकों का महत्त्व समझा चुके थे। पार्टी में राजर्षि टण्डन ने तथा अन्य राष्ट्रवादियों ने रोमन अंकों का जोरदार विरोध किया। ता॰ २५ की बैठक में भी काफी चर्चा हो चुकी थी और नेहरू-दल को आशा अत्यधिक थी कि रोमन अंक ग्रहण करने वालों का बहुमत हो गा। तब सेठ गोविन्द दास जी ने कहा कि इस सम्बन्ध में पार्टी जो भी निर्णय करे, उस से हमें बांधना न चाहिए और सदस्यों को यह अधिकार रहना चाहिए कि विधान-परिषद् में वे खुल कर अपनी अन्तरात्मा के अनुसार मत दे सकें। सेठ जी ने याद दिलायो कि सन् १६४७ के उत्तरार्द्ध में जब आचार्य कृपलानी कांग्रेस-अध्यक्ष थे, कांग्रेस पार्टी ने बहुमत से

हिन्दी का पक्ष लिया था, तब पं० जवाहर लाल नेहरू की प्रार्थना पर यह बात मान ली गयी थी कि इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर सभी सदस्य विधान-परिषद् में स्वेच्छापूर्वक मत-दान कर सकें गे। वही चीज अब भी रहनी चाहिए।

सेठ जी की इस प्रार्थना का कड़ा विरोध नेहरू-दल की ओर से हुआ और एक सदस्य ने तो यहाँ तक कहा कि—"यदि भाषा के सम्बन्ध में आप पार्टी से स्वतन्त्रता चाहते हैं, अलग मत देना चाहते हैं, तो फिर हमें राष्ट्र ('संघ') से भी अलग हो जाने का अधिकार देना हो गा।"

आखिर २६ ता० की बैठक में अंकों के सम्बन्ध में मत लिये गये।

मत गिनने में गड़बड़ी

हाथ उठवा कर मत लिये गये। गिनने का काम 'दल' के सचेतक श्री सत्यनारायण सिंह ने किया। कोई भी सदस्य तटस्थ न रहा। मत-दान इस बात पर हुआ कि मसविदे से अंक वाली धारा निकाल दी जाय, जिस में रोमन अंक ग्रहण करने को कह गया है। मत-गणना कर के सचेतक ने प्रकट किया कि ५३ तथा ५५ मत हैं। ५३ मत हैं, उस अंश के निकाल देने के पक्ष में, जिस में रोमन अंकों के ग्रहण करने का उल्लेख है और ५५ मत हैं, उस के बने रहने के पक्ष में, यानी रोमन अंकों के पक्ष में।

ध्यान रखने की बात है कि इस मत-दान में कोई भी सदस्य तटस्थ न था। इस मत-गणना-परिणाम से टण्डन जी को सन्तोष न हुआ, आश्चर्य हुआ। उन्हों ने समझा कि कहीं कुछ गड़बड़ है। उन्हों ने तब विभाजन की मांग की और तब बड़ी झंझट के बाद प्रेजीडेण्ट डा० पट्टाभि सीतारामय्य ने उन की बात स्वीकार की। इस प्रकार जो मत लिए गये, तो ७५ मत हिन्दी-पक्ष को मिले और ७४ रोमन-पक्ष को! हिन्दी की इस विजय से—

नेहरू जी झल्ला उठे

उन्हों ने वहीं तैश में आ कर कहा कि अब तो इस मामले पर या तो समझौता करना हो गा, या फिर हम लोग विधान-परिषद् में खुल कर अपना पक्ष रखें गे।

एक दिन पहले सेठ गोविन्द दास जी ने जिस चीज के लिए प्रार्थना की थी ; पर वैसी प्रार्थना करने पर उन्हें डाट खानी पड़ी थी, वही चीज नेहरू जी ने इतने जोर से कह दी, 'हम विधान-परिषद् में खुल कर अपना पक्ष रखें गे।' नेहरू जी की इस बात का विरोध किसी ने न किया। 'चित भी मेरी, पट भी मेरी, अंटा मेरे दादा का!'

सो, ता० २६ अगस्त की कांग्रेस-पार्टी की बैठक ऐसी रही! इस बैठक का मनोरंजक विवरण दैनिक 'भारत' में छपा था, उस के

'संवाददाता' का भेजा हुआ ! यहां उसे हम ज्यों का त्यों दे देना चाहते हैं, जिस से पाठकों को इस सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालूम हों गी।—

"अपना पूरा जोर लगाने पर भी प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू विधान-परिषद् के कांग्रेस-दल से नागरी अंकों के मुकाबिले अरबी अंक—जिन्हें पहिले मसविदे में अरबी, दूसरे में अन्तर्राष्ट्रीय और तीसरे मसविदे में भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप बताया गया था—मनवाने में सफल-मनोरथ न हो सके। पिछले कई दिनों से अरबी अंकों की विशेषता पर कांग्रेस-दल की बैठकों में प्रधान मन्त्री, उन के अन्य समथक तथा मदरासी बन्धु धुआंधार भाषण दे रहे थे। इस के साथ वे यह भी भविष्यवाणी कर रहे थे कि अंकों का यूरोप और अमेरिका में प्रचलित यह अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप अपने देश में स्वीकार न किये जाने से भारत का औद्योगीकरण बंद हो जायगा और जल, थल तथा नभ सेनाओं का काम ठप्प हो जायगा।

मत-गणना का कार्य

कल के वाद-विवाद के बाद यह निश्चय हो गया कि राजकीय भाषा सम्बन्धी मसविदे में वर्णित विभिन्न धाराओं पर मत लेने का काम प्रारम्भ हो जाय, क्यों कि विवाद पर्याप्त हो चुका है। इस निश्चय के अनुसार दल की सभा में आज सब से पहिले एक सदस्य ने यह प्रस्ताव किया कि नेहरू जी, श्री

गोपाल स्वामी अयंगर, श्री राजेन्द्र प्रसाद, श्री पुरषोत्तम दास टण्डन, श्री रविशंकर शुक्ल, श्री कन्हैयालाल मुंशी और श्री संतानम् की उपसमिति बना दी जाय जिस का निर्णय सभी को मान्य हो। एक दूसरे सदस्य ने इस का यह कह कर विरोध किया कि इस संबंध में सुझायी गयी नामावली बन चुकी है। इस लिए इस तरह की उप-समिति से कोई लाभ न होगा। टण्डन जी और श्री रविशंकर शुक्ल ने ऐसी उपसमिति की सदस्यता स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

दोषपूर्ण गणना

कुछ विवाद के उपरान्त नागरी और अरबी अंकों पर मत लिये जाने लगे। प्रधान सचेतक बाबू सत्यनाराण सिंह गणक थे। आपने नागरी अंकों के विरुद्ध ६४ और पक्ष में ५४ मत गिने। टंडन जी ने गणना को दोषपूर्ण बताते हुए विभाजन की मांग की। सभापति डा० पट्टाभि सीतारमैया ने बड़ी मुश्किल से यह मांग स्वीकार की। नागरी के पक्ष वालों ने जब दूसरे कमरे में अपने मत हस्ताक्षर कर गिने तो इन की संख्या ७५ निकली। पहिले कमरे में बैठे हुए लोगों के नाम जोड़ने पर जिस में अध्यक्ष डा० पट्टाभि अपना मत पहिले ही दे चुके थे—७४ से अधिक मत न निकले। सब से अधिक आश्चर्य लोगों को इस बात से हुआ कि—तटस्थों के न होने पर भी प्रथम मत-गणना में कुल मतों की संख्या ११८ (५४+६४) के मुकाबिले मत-विभाजन के समय १४६ कैसे हो गई।

बिहार-मंत्री नागरी अंक के विरुद्ध

मत-विभाजन के समय लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब बिहार के प्रधान मंत्री बाबू श्रीकृष्ण सिंह और राजस्व-मंत्री बाबू कृष्ण वल्लभ सहाय और श्री मुंशी ने तथाकथित अंतर्राष्ट्रीय (अरबी) अंकों के पक्ष में अपने मत दिये। उड़ीसा के भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री विश्वनाथ दास और पश्चिमी बंगाल के श्री मिहिरलाल चट्टोपाध्याय, बम्बई के डा० जीवराज मेहता और वयोवृद्ध ठक्कर बापा ने अरबी अंकों के विरुद्ध मत दिये। बिहार के एक मंत्री श्री विनोदानन्द झा ने नागरी अंकों के पक्ष में अपना मत दिया।

पक्ष और विपक्ष

नागरी अंकों के पक्ष में पूर्वीय पंजाब के सारे सदस्यों ने जिन में सारे सिख सदस्य भी थे, अपने मत दिये। तथाकथित पिछड़ी जातियों के सभी सदस्यों ने नागरी अंकों के पक्ष में मत दिये। इसी तरह मध्य प्रांत के सारे सदस्यों ने अपने प्रधान मंत्री श्री रविशंकर शुक्ल के नेतृत्व में नागरी अंकों के पक्ष में और अरबी अंकों के विपक्ष में अपने मत दिये। राज्यसंघों के सदस्यों ने भी नागरी अंकों के पक्ष में अपने मत दिये। मदरास प्रांत के सारे सदस्य और पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और बम्बई के सदस्यों के बहुमत ने अरबी अंकों के पक्ष में और नागरी अंकों के विरुद्ध अपने मत दिये। संयुक्त प्रांत और

विहार के सदस्यों के प्रचण्ड बहुमत ने अरबी अंकों के विरुद्ध और नागरी अंकों के पक्ष में अपने मत दिये। स्वभावतः प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू और मौलाना अब्दुल-कलाम आजाद के नेतृत्व में सभी मुसलमान सदस्यों और नेहरू जी के कुछ समर्थकों ने अरवी अंकों के पक्ष में और नागरी अंकों के विरुद्ध अपने मत दिये।

उर्दू पर गर्व

मत-विभाजन के फल की घोषणा से नागरी अंकों के विरोधी दुःखी तो हुए पर विलकुल निराश नहीं हुए। कहते हैं कि सभा में ही प्रधान मंत्री ने, जो कांग्रेस-दल के नेता होने के कारण दल के निर्णयों से वंधे समझे जाते हैं, कहा कि "कुछ निर्णय नहीं हुआ। हम जनता के सामने इस की लड़ाई लड़ेंगे।" इस के पहिले की एक दिन की वैठक में प्रधान मंत्री ने कहा था कि हमें उर्दू पर गर्व है और उर्दू हमारी मातृ-भाषा है। उर्दू वालों की नीति साधारण जन की समझ में नहीं आ सकती कि कैसे डा० अब्दुल हक की हिन्दुस्तान की उर्दू की मासिक पत्रिका "हमारी जवान" पाकिस्तान में "कौमी जवान" हो गयी।

चौथा मसविदा

कहते हैं कि जो राजकीय भाषा सम्बन्धी मसविदा कांग्रेस दल के सामने है वह तीसरे मसविदे से, जो श्री गोपाल स्वामी आयंगर और श्री कन्हैयालाल मुंशी का वनाया हुआ था, अच्छा

है। कहते हैं, इसने तीसरे से विपरीत दो विभिन्न प्रांतों को, जो अपनी राजभाषा का निर्णय कर चुके हैं, आपस में उक्त प्रांतीय भाषा में पत्र व्यवहार करने का अधिकार दिया है। इसी तरह दो एक और अच्छी व्यवस्थाएँ नये मसविदे में है। कल विवाद प्रारम्भ होने के पहिले मसविदे के लेखक डाक्टर अम्बेदकर ने कहा था कि विरोधी और समर्थक दलों के दो-दो प्रतिनिधि उन के मसविदे की विस्तारपूर्वक आलोचना यदि करें तो संभवतः वे मसविदे में और सुधार कर सकेंगे। अरबी अंकों के समर्थक यह समझे थे कि वे अपने बहुमत से अपनी बात मनवा लेंगे। दुर्भाग्य से वे बुरी तरह चित्त हो गये, यद्यपि यह सही है कि अब भी किसी न किसी रूप में अरबी अंकों के समर्थक अरबी अंकों की बात फिर उठावेंगे। जो भी हो, इस हार से इतना तो होगा ही कि एक वोट से हारा दल अब इस तरह की चुनौती न देगा और भविष्य में मिलजुल कर कार्य करना ही अधिक लाभप्रद समझा जाएगा।"

२ सितम्बर को फिर बैठक

इस के बाद ता० २ सितम्बर १९४९ को फिर विधान-परिषद् के कांग्रेस-दल की बैठक भाषा-सम्बन्धी निर्णय के लिए हुई। इस बार घुमा कर नाक पकड़ने की प्रक्रिया हुई। प्रारम्भ में डा० पट्टाभि सीता रामय्य (अध्यक्ष) ने जोरदार अपील की, इस के लिए कि भाषा-सम्बन्धी 'मुंशी-आयंगर मसविदा' ज्यों का त्यों अखंड रूप में स्वीकार कर लिया जाय। मसविदे को इधर-उधर

से खंडित कर के देखने से यह कितना अच्छा है कि उस की पूर्णता स्वीकार करने में हम अपनी एकता दिखाएँ। डा० पट्टाभि का मतलब यही कि अंकों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उसे निकाले विना, उसी रूप में वह मसविदा स्वीकार कर लिया जाय।

परन्तु राष्ट्रवादी लोगों को यह अच्छा न लगा कि खीर में नमक डाल दिया जाय! हिन्दी भाषा में रोमन अंक! कैसी बेतुकी बात! अन्ततः इस बैठक में भी मत-विभाजन हुआ, इस बात पर कि 'मुंशी-आयंगर मसविदा' ज्यों का त्यों पार्टी की ओर से विधान-परिषद् में पेश किया जाय, या नहीं। मत-गणना में दोनो ओर बराबर-बराबर बल रहा—७७-७७ मत दोनो ओर रहे। पाँच सदस्य तटस्थ भी रहे।

तब, यह कहा गया कि इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो सका है और इस मत-भेद का पार्टी की नीति से कोई वैसा सम्बन्ध भी नहीं है; इस लिए विधान-परिषद् में कांग्रेस-दल के सभी सदस्य स्वतन्त्रता-पूर्वक अपना-अपना मत रख सकें गे और स्वतंत्र प्रस्ताव तथा संशोधन रख सकें गे। परन्तु यह भी कहा गया कि 'मुंशी-आयंगर मसविदा' व्यक्तिगत रूप से डा० अम्बेड-कर, मि० आयंगर तथा मि० मुंशी रखें गे।

देश में हलचल

उधर यह सब हो रहा था और इधर देश भर में एक हलचल

मची थी कि राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में भी यह कैसा संघर्ष ! आयरलैंड तीन सौ वर्ष तक अंग्रेजों का गुलाम रहने के बाद जब स्वतंत्र हुआ, तो उस ने अपना विधान अपनी भाषा में बनाया ; यद्यपि विधान-परिषद् में कुल ६ सदस्य आयरिश भाषा को भली भाँति जानने-समझने वाले थे ; शेष सब अंग्रेजी भाषा में सराबोर थे ! परन्तु अपनी भाषा को सब ने सिर झुका कर ग्रहण किया, जिस से उन का सिर ऊँचा हुआ। एक हम हैं, जो अंग्रेजी को छोड़ नहीं रहे ! इंग्लैंड तथा आयरलैंड में तो बहुत कुछ भाषा तथा रहन-सहन की समानता भी है ; पर हम तो हजारों मील दूर हैं ! यहाँ जनता का इतना बड़ा आन्दोलन अपनी भाषा के लिए ! आयरलैंड में वैसे किसी आन्दोलन की जरूरत ही नहीं ! इसी तरह तुर्किस्तान आदि ने अपनी भाषा को महत्त्व दिया और वे राष्ट्र इसी लिए ऊपर भी उठे। परन्तु हमारे राष्ट्र को तो साम्प्रदायिकता ने ऐसा दबोच रखा है कि कुछ कहते नहीं बनता ! दूसरे देश के लोग हमारी राष्ट्रभाषा की इस दुर्दशा का हाल पढ़ते हों गे तो क्या कहते हों गे ? कहते हों गे कि हिन्दुस्तान भी क्या कोई राष्ट्र है ? जिस की अपनी भाषा भी नहीं, जो अपनी भाषा बनाने के लिए आपस में इतना झगड़ रहा है, वह भी कोई राष्ट्र है क्या ?

मत-गणना में फिर गड़बड़ी

ता० २ सितम्बर की कांग्रेस-पार्टी की बैठक में जब 'मुंशी-आयंगर मसविदे' को अविकल रूप से स्वीकार करने-न-करने पर

नेहरू जी फिर अपने रंग में

अखिल भारतीय 'राष्ट्रभाषा-व्यवस्था-परिषद्' ने जब सर्व-सम्मति से यह निर्णय दे दिया कि इस देश की राजभाषा नागरी में लिखी हिन्दी होनी चाहिए, तब लोगों ने समझा था कि अब कभी कोई यह न कहे गा कि अहिन्दीभाषी प्रान्तों पर हिन्दी थोपी-लादी जा रही है! जो सादर सिर-माथे ले रहे हैं, उन के ऊपर लादने की बात कैसी?

परन्तु पं० जवाहर लाल नेहरू उस धातु के बने हैं, जिस में कभी परिवर्तन हो ही नहीं सकता! ता० ३ सितम्बर १६४६ को प्रयाग में विद्यार्थियों की एक सभा में विविध समस्याओं पर बोलते हुए नेहरू जी ने राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में कहा—

"हिन्दी किसी दूसरे प्रान्त पर लादी नहीं जा सकती। दक्षिण भारत के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यह एक बड़ी बात है कि हम ने हिन्दी मान ली है; परन्तु सब पर संस्कृत लादना उचित नहीं है।"

इस तरह एक बार फिर दक्षिण भारत को भड़काने का प्रयत्न किया गया, ठीक उस समय जब एक ही सप्ताह में राष्ट्रभाषा का प्रश्न विधान-परिषद् में आने को है, जो कि वर्षों से टाला जा रहा है!

हिन्दी 'हम ने मान ली है'! मानो किसी पर अहसान किया है! 'हम ने' का मतलब है—'पं० नेहरू तथा मौलाना आजाद आदि ने'! परन्तु संस्कृत सब पर लादना उचित नहीं है! 'सब पर' का अर्थ है—'मुसलमान भाइयों पर'! अफगानिस्तान की सरकार ने वहाँ के मुसलमानों पर संस्कृत 'लाद दी' है; सो अलग बात है। अफगानिस्तान एक तरह से क्या, सब तरह से 'इस्लामी' देश है, मजहबी राज्य है। वह चाहे जो करे! परन्तु हिन्दुस्तान तो धर्म-निरपेक्ष राज्य है—धर्म-निरपेक्ष यहाँ का शासन है। तब यहाँ के मुसलमानों पर संस्कृत कैसे लादी जा सकती है?

नेहरू जी के इस भाषण से आभास मिल गया कि १०, १२, १३ सितम्बर को जब विधान-परिषद् में राजभाषा-सम्बधी प्रश्न सामने आये गा, तो 'सरकारी' रुख क्या हो गा। ऐसा स्पष्ट हो रहा है कि 'हिन्दी' नाम स्वीकार कर के भी भाषा का स्वरूप वही रखने का आग्रह हो गा, जिस का नाम 'हिन्दुस्तानी' प्रसिद्ध है और जिस में न 'अरबी-फारसी के, न संस्कृत के' शब्द भरने की प्रतिज्ञा है। जिस भाषा में 'प्रकाशक' के लिए 'निकालिया' शब्द रखा गया है; क्योंकि 'प्रकाशक' संस्कृत भाषा का शब्द है! 'इस पुस्तक के प्रकाशक प्रयाग के एक सज्जन हैं' इस हिन्दी को नेहरू जी नहीं चाहते; क्योंकि इस में संस्कृत शब्द भरे हैं, जो मुसलमानों पर लादना ठीक नहीं। वे ऐसी हिन्दी चाहते हैं—

'इस किताब के निकालिया इलाहाबाद के एक भले मानस हैं।'

केन्द्रीय सरकार का दिल्ली में जो प्रकाशन-केन्द्र है, उस का नाम है—'किताबिस्तान'। 'प्रकाशन-केन्द्र' 'साहित्य-केन्द्र' या 'पुस्तक-भवन' होता, तो मुसलमानों पर हमारा अन्याय लदता !

ऐसा जान पड़ता है कि विधान-परिषद् में भाषा-सम्बन्धी प्रश्न उठने पर एक बार फिर फारसी-अरबी लिपि की मांग उठे गी !

सेठ गोविन्द दास जी के संशोधन

ता० २ सितम्बर को कांग्रेस-दल में भाषा-सम्बन्धी जोर दोनो ओर बराबर-बराबर रहने पर यह घोषित किया गया था कि अब दल के लोग विधान-परिषद् में निजी रूप से स्वतन्त्रता-पूर्वक भाषा-सम्बन्धी प्रस्ताव-संशोधन रखें गे। यह भी मालूम हो गया था कि 'मुंशी-आयंगर मसविदा' डा० अम्बेदकर, श्री मुंशी तथा मि० गोपाल स्वामी आयंगर व्यक्तिगत रूप से रखें गे।

ता: ३ सितम्बर को सेठ गोविन्द दास जी ने भाषा-सम्बधी नौ संशोधन उपस्थित करने की सूचना दी। सेठ जी के संशोधन कितने उदार तथा तर्क-संगत हैं, आप स्वयं देख कर निर्णय देंगे—

१—भारतीय संघ की राजभाषा हिन्दी होगी और लिपि नागरी।

विधान लागू होने के दस वर्ष पश्चात् तक अंग्रेजी भारतीय संघ की सरकारी भाषा रहे। (यह उल्लेखनीय है कि 'राष्ट्रभाषा-व्यवस्था-परिषद्' ने अपने प्रस्ताव में यही कहा था कि १० वर्ष तक अंग्रेजी भारतीय संघ की सरकारी भाषा रहे।)

१० वर्ष तक अंग्रेजी को सरकारी भाषा बनाये रखने का प्रस्ताव अस्वीकार हो जाने पर, वह समय १५ वर्ष का रख दिया जाय। (यह उल्लेखनीय है कि कांग्रेस-कार्य-समिति ने अपने प्रस्ताव में यह अवधि स्वीकार की है।)

२—भारतीय लोकसभा का चुनाव होने के पश्चात् शीघ्र ही लोकसभा के २० और राज्य-परिषद् के १० निर्वाचित सदस्यों की एक समिति बनायी जाय, जो अंकों के प्रश्न पर राष्ट्रपति को अपनी सिफारिश दे। यही समिति राष्ट्रपति से सिफारिश करे गी, राष्ट्रपति को सुझाव दे गी कि हिन्दी धीरे-धीरे अंग्रेजी का स्थान किस तरह ले। ऐसा न हो कि इस दिशा में १० या १५ वर्ष तक हिन्दी की प्रगति एकदम ठप पड़ी रहे।

३ - १० या १५ वर्ष के पश्चात् लोकसभा (पार्लामेण्ट) की कार्रवाई हिन्दी में हो गी ; पर जो सदस्य हिन्दी में अपने विचार न प्रगट कर सकें गे, लोकसभा के अध्यक्ष उन्हें अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे सकें गे।

४—विभिन्न प्रान्त अपने प्रान्त की भाषा या राष्ट्रभाषा (हिन्दी) को अपनी राजभाषा बना सकते हैं।

५—राष्ट्रपति के आदेश के बिना अभी एक-दूसरे प्रान्त के बीच पत्र-व्यवहार की भाषा अंग्रेजी रहे गी; परन्तु यदि दो या दो से अधिक प्रान्त स्थायी रूप से भारतीय संघ की भाषा को (हिन्दी को) अपनी सरकारी भाषा घोषित कर चुके हों, या घोषित कर दें, तो वे उस भाषा (हिन्दी) में पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

६—प्रान्तीय धारा-सभाएं अपने प्रान्त की भाषा या हिन्दी या (१०-१५ वर्ष तक) अंग्रेजी में ही अपना काम-काज चलाएं गी।

७—सर्वोच्च न्यायालय तथा सभी हाई कोर्टों में, १० या १५ वर्ष तक, कार्रवाई अंग्रेजी में हो गी; परन्तु जिन हाई कोर्टों ने हिन्दी को स्वीकार कर लिया है, वहां अंग्रेजी जबर्दस्ती न लादी जाय गी।

विधान लागू होने के १० या १५ वर्ष की अवधि के भीतर विधान की राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी धाराओं में, राष्ट्रपति की अनुमति के बिना, कोई संशोधन या बिल पेश न किया जाय गा। साथ ही लोकसभा और राज्य-परिषद् की उस निर्वाचित 'संयुक्त

समिति' की सिफारिशों पर विचार किये बिना राष्ट्रपति वैसे किसी संशोधन या बिल को पेश करने की अनुमति न देंगे।

९—जब राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि किसी प्रान्त में २० प्रतिशत जनता उस प्रान्त की किसी 'प्रादेशिक' भाषा को भी प्रान्त के सरकारी कामों में उपयोग में लाने की माँग कर रही है, तो वे समूचे प्रान्त या प्रान्त के किसी भाग में उस प्रादेशिक भाषा को भी सरकारी कामों में उपयोग करने की घोषणा कर सकते हैं।

विधान के मूल मसविदे के 'निर्देशक-सिद्धान्त' में 'हिन्दुस्तानी-शैली' स्वीकार करने की जो चर्चा है, उसे निकाल देना चाहिए।

ऊपर इन नौ संशोधनों में सब कुछ आ गया है और 'पाण्डव' वहाँ तक झुक गये हैं, जहाँ तक सम्भव था। परन्तु जिन्हें झगड़ा ही करना है, उन से क्या कहा जाय? संस्कृत में एक कहावत है—

'विक्रीते करिणि कोऽङ्कुशे विवादः?'

—हाथी बिक जाने पर—सौदा पट जाने पर—सिर्फ अंकुश के लिए क्या झगड़ा! परन्तु यहाँ अंकुश के लिए ही झगड़ा है!

हाथी की पूरी कीमत चुका देने पर भी विक्रेता अंकुश नहीं दे रहा है—लिपि नागरी मान लेने पर भी रोमन अंकों का झगड़ा ! अंकुश के बिना हाथी ले जाओ ! अंकुश हमारे पास है, तो बाजी हमारे हाथ है। कहने को यह कि भाई, हाथी तो दे दिया, अब अंकुश में क्या रखा है ! यह हमारे पास रहने दो !

सो, इस देश की राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में ये दावँ-पेंच चल रहे हैं, सत्तारूढ़ 'राष्ट्रवादी' दल में ! संसार के इतिहास में कोई दूसरा उदाहरण ऐसा आप को कहीं मिला है क्या ?

श्री नागप्पा की हिम्मत

सेठ श्री गोविन्द दास जी के बाद पं० रवि शंकर शुक्ल आदि बहुत से सदस्यों ने भाषा सम्बन्धी अपने-अपने संशोधन उपस्थित करने की सूचना दी ; पर सब से बड़ी हिम्मत का काम मद्रासी सदस्य श्री युत एस० नागप्पा महोदय का रहा। आप ने भाषा-सम्बन्धी जो संशोधन रखने की सूचना दी है, उस की चर्चा ता० ७ सितम्बर के समाचार-पत्रों ने बड़े कुतूहल से प्रकाशित की है ! आप का कहना यह है कि—

"५० वर्ष तक भारतीय संघ सरकार की भाषा अंग्रेजी ही रहे और इस अवधि (पचास वर्ष) के बाद संघ सरकार की भाषा रोमन लिपि में लिखी 'हिन्दुस्तानी' हो।"

इस से आगे के लोग अनुमान लगा सकें गे कि भारतवर्ष में किसी समय कैसे-कैसे उर्वर मस्तिष्क के और स्वच्छन्द विचारों के राष्ट्रवादी देशभक्त मौजूद थे ! देश में एक विचित्र स्थिति है ! और विषयों का क्या निर्णय हो गा, जब राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में यह सब है।

उर्दू वाले 'हिन्दुस्तानी' पर

अब 'उर्दू-प्रेमी' लोग 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन जोरों से कर रहे हैं। इसी सात सितम्बर ('४६) के समाचार-पत्रों में छपा है कि बम्बई में उर्दू-पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों की मजलिस में सर्वसम्मति से 'हिन्दुस्तानी' के समर्थन में प्रस्ताव पास किया गया है और हिन्द-सरकार को तथा विधान-परिषद् के अध्यक्ष को तार दिये गये हैं कि केन्द्रीय सरकार की राजभाषा 'हिन्दुस्तानी' नागरी तथा फारसी, दोनों लिपियों में स्वीकृत हो। इस मजलिस ने ६ सितम्बर को देश भर में 'हिन्दुस्तानी-दिवस' मनाने की अपील भी की। 'दिवस' शब्द पहले-पहल उर्दू वालों के मुँह से निकला इस समय। अब तक 'योम' चलता था— 'नजाते योम' बहुत प्रसिद्ध कलंकी दिवस है, जब भारत को तहस-नहस करने का जोरदार उपक्रम रचा गया था। चलो, किसी तरह 'दिवस' बोले तो ! पर सम्भव है, 'योम' का हिन्दी-अनुवाद हिन्दी-समाचार-पत्रों में छपा हो ! आप इतना समझ लें कि उर्दू वाले 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में अब जोर से बोले।

महात्मा जी के नाम पर

इसी समय काका कालेलकर आदि कुछ महात्मा जी के अनन्य भक्तों ने, महात्मा जी के नाम को आगे रख कर, हिन्दुस्तानी भाषा का पक्ष फिर सामने रखा। एक प्रार्थना-पत्र छपवा कर विधान-परिषद् के सदस्यों में बँटवाया गया, जिस में कहा गया कि संघ सरकार (भारतीय केन्द्रीय सरकार) की राजभाषा नागरी तथा फारसी लिपि में 'हिन्दुस्तानी' होनी चाहिए।

इधर-उधर धुआँधार भाषणों में अहिन्दीभाषियों को भड़काने का जोरदार कार्यक्रम चला कि उन पर हिन्दी जबर्दस्ती 'थोपी' जा रही है! केन्द्रीय सरकार की सम्पूर्ण शक्ति एक दिशा में काम कर रही थी।

उत्तरार्द्ध

पूर्वार्द्ध पर एक विहंगम दृष्टि

इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में हम ने देखा कि किस तरह इस देश में भाषा का विकास हुआ, कैसे हिन्दी की उत्पत्ति हुई, किस तरह और किस काम के लिए हिन्दी को 'उर्दू' का नाम-रूप मिला, फिर कैसे अंग्रेजी आयी और सरकारी भाषा के रूप में फैली, राष्ट्रीय चेतना के उषःकाल में किस तरह कुछ साहित्यकारों ने महर्षि मालवीय की अध्यक्षता में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सपना देखा और किस तपश्चार्य्या से राजर्षि टण्डन ने उस सपने को मूर्तिमान् किया। हम ने यह भी देखा कि उस युग में इस ओर कितनी उपेक्षा थी! हिन्दी का पक्ष बढ़ता देख किस तरह 'हिन्दुस्तानी' सामने लायी गयी और उस ढाल के सहारे अंग्रेजी चैन से रही। अंग्रेजी राज्य चले जाने पर और देश का विभाजन हो जाने पर अनुभव किया गया कि अब तो निर्विवाद रूप से हिन्दी इस देश की राजभाषा हो ही गयी। परन्तु फिर भी प्रतिक्रिया जारी रही और अब उर्दू या 'हिन्दुस्तानी' का नहीं, अंग्रेजी भाषा का मोह खुल कर सामने आया। राष्ट्र के इस जागरण में खुल कर अंग्रेजी का पक्ष ग्रहण करने वाले कम हिम्मती दिखायी दिये; पर चाल से हिन्दी को मात देकर अंग्रेजी को चिरकाल तक इस देश पर लादे रखने की कुप्रवृत्ति बढ़ती गयी! सोचा गया था कि सत्ता ग्रहण करने के पांच वर्ष बाद अंग्रेजी विदा हो जायगी! फिर यह अवधि नवीन विधान या संविधान लागू होने के पाँच वर्ष बाद तक समझी गयी। 'राष्ट्र-

भाषा-व्यवस्था परिषद्' ने दस वर्ष की अवधि निर्धारित की। परन्तु विधान-परिषद् के कांग्रेसी दल ने पन्द्रह वर्ष की अवधि कर दी। यह भी स्वीकार कर ली गयी, तब यह कहा गया कि हिन्दी में अंक अंग्रेजी के चलें गे! यह एक नया झमेला खड़ा किया गया, कारण बताये बिना। अर्थात् हिन्दी में अङ्क अंग्रेजी के (रोमन) सदा चलते रहें गे। भाषा का मसविदा ऐसा बनाया गया, जो हमें आगे ले जाने की जगह पीछे हटाने लगा। पन्द्रह वर्ष बाद भी अंग्रेजी इस देश में जमी रहे ऐसी व्यवस्था की गयी। विधान-परिषद् में इस समस्या पर बड़ा संघर्ष हुआ। उसी का संक्षिप्त वर्णन यहां (उत्तरार्द्ध में) किया जायगा।

राजर्षि टण्डन से भेंट

ता० १२, १३, १४ सितम्बर (१९४९) को विधान-परिषद् में भाषा-सम्बन्धी समस्या उपस्थित होगी; यह पढ़ कर मैं ने १० सितम्बर के दिन, दिल्ली जाकर राजर्षि बाबू पुरुषोत्तम दास जी टण्डन से भेंट की। उस समय वे बड़े उद्विग्न और चिन्तित थे। उन्हों ने कहा—"जीवन भर में दो बार मैं उद्विग्न हुआ हूं। एक तो देश-विभाजन की उन संकट-पूर्ण घड़ियों में और दूसरी बार आज भाषा-सम्बन्धी इस खींच-तान के दुर्भाग्यपूर्ण विवाद में!"

आगे उन्होंने कहा—

"हिन्दी में अंग्रेजी अङ्कों का मेल क्या? और जो कुछ

विधान-परिषद् में आ रहा है, उस से स्पष्ट है कि पन्द्रह वर्ष के बाद भी अनन्त काल तक अंग्रेजी भाषा इस देश पर इसी तरह लदी रहे गी !"

टण्डन जी विधान-शास्त्र के पारंगत विद्वान हैं। उन के ये शब्द सुन कर मैं सन्न रह गया। मैं ने पूछा—"स्थिति क्या है ? अपना पक्ष कैसा है ?" वे बहुत उदास हो कर बोले—

"स्थिति पहले तो अच्छी थी पर अब प्रतिक्षण बदलती जा रही है। अपने ही आदमी (हिन्दी-समर्थक) दूसरे रूप में आ रहे हैं। मेरे पास आ-आ कर तंग करते हैं और कहते हैं कि बाबू जी, रोमन अङ्क मान ही लेने चाहिए; आगे सब ठीक हो जाय गा ! बताओ, क्या किया जाय ?"

"तब आप क्या करें गे ? जब अपने पक्ष के लोग ही अंग्रेजी पक्ष में जाने लगे, तब भला क्या होगा !" मेरे ऐसा कहने पर टण्डनजी ने बड़ी दृढ़ता से कहा—"जहाँ तक झुका जा सकता है, झुकूँ गा। परन्तु सदा के लिए हिन्दी के साथ अंग्रेजी अङ्क बैठा देना मैं कभी भी सहन न करूँ गा। यह मेरे लिए असह्य है।"

"तब तो आप अकेले ही रह जायँ गे ! इस से क्या लाभ ?" प्रश्न का उत्तर देते हुए राजर्षि ने कहाः—"लाभ क्यों नहीं। मैं अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध न जाऊँ गा—अपने आप को धोखा

न दूंगा। इस समय तो ऐसा लगता है कि अभिमन्यु के लिए चक्रव्यूह रचा जा रहा हो! सभी महारथी एक ओर हो गये हैं! देखो, निकलने का यत्न तो करूँगा।"

बातें करते समय टण्डन जी के मुख-मण्डल पर जो चिन्ता-रेखाएँ मैं ने देखीं, वे इस से पहले और कभी मैं ने न देखी थीं; यद्यपि पिछले बीस-पचीस वर्ष से उन के निकट सम्पर्क में रहने का अवसर मुझे मिला है और अनेक बार बहुत बड़ी-बड़ी चिन्ताओं में उन्हें मैं ने देखा है।

अन्तिम रस्साकसी

राजशक्ति दूसरी ओर थी और नेहरूजी अपनी पूरी शक्ति उधर ही लगा रहे थे। जब सब तरह से स्थिति ठीक कर ली गयी, तो नाम-मात्र के फेर-फार के साथ वही 'मुंशी-आयंगर सूत्र' कांग्रेसदल में पुनः समर्थित हुआ और कहा गया कि कांग्रेस-दल का कोई भी सदस्य विधान-परिषद् में इस 'सूत्र' के विरुद्ध न तो मत दे ओर न इस पर कोई संशोधन ही रखे।

यह एक विचित्र आज्ञा थी; क्योंकि कई बार पहले घोषित किया जा चुका था कि दल के सभी सदस्य अपनी-अपनी अन्तरात्मा के अनुसार विधान-परिषद् में मत दे सकें गे, भाषा-सम्बन्धी प्रश्न पर, और संशोधन भी रख सकें गे।

टण्डनजी का कांग्रेस-दल से सम्बन्ध-विच्छेद

इस आदेश को टण्डन जी ने अनुचित समझा और उन्हों ने परिषद् में अपना संशोधन रखना जरूरी समझा, जो कि 'दल' की. बैठक में रह गया था। कारण, इस समय तक हिन्दी के समर्थक वे सभी बड़े-बड़े महारथी टूट कर उधर हो गये थे। टण्डन जी अपने संशोधन में काफी झुक गये थे ; फिर भी लोग दूसरी ओर अड़े रहे! मन से उधर न थे ; पर आत्मा की कमजोरी! राजाशक्ति दुर्दम होती है! टण्डन जी के संशोधन में ये बातें मुख्य थीं—

१—पन्द्रह वर्ष तक अंग्रेजो अङ्कों के साथ-साथ हिन्दी अंक भी चलते रहें।

२—विधान वनने से पूर्व जिन असेंबलियों में और जिन हाई कोर्टों में हिन्दी काम में लायी जा रही है, वहाँ जबर्दस्ती अब अंग्रेजी न चलायी जाय।

३—राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया जाय कि वे अपने विवेक के अनुसार विशेष-विशेष जगह केवल हिन्दी अङ्क या केवल अंग्रेजी अंक प्रयुक्त करने का आदेश जारी कर सकें।

४—पार्लियामेन्ट को यह अधिकार दिया जाय कि वह पन्द्रह वर्ष के बाद भी किन्हीं कामों में अंग्रेजी का प्रयोग जारी रख सके।

(ध्यान रखने की बात है कि 'मुंशी-आयंगर सूत्र' में यह अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है।) बस, ये ही टंडन जी के संशोधन थे, जो कांग्रेस-दल को मान्य नहीं हुए।

जब कांग्रेस-दल की ओर से वैसी आज्ञा सदस्यों को दे दी गयी, तो राजर्षि टंडन ने दल से त्यागपत्र दे दिया। उन्हों ने निश्चय कर लिया कि विधान-परिषद् में अपने संशोधन अवश्य रखें गे।

मि० आयंगर ने प्रस्ताव रखा

मि० गोपाल स्वामी आयंगर ने भाषा-सम्बन्धी वह 'सूत्र' विधान-परिषद् में प्रस्ताव के रूप में रखा, जो 'मुंशी-आयंगर फार्मूला' नाम से प्रसिद्ध है और पूर्वार्द्ध में जिस का उल्लेख हो चुका है। मि० आयंगर ने राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी यह प्रस्ताव रखते समय जो भाषण दिया, उस से स्पष्ट हो जाता है कि उन के हृदय में क्या था और इस 'सूत्र' की सृष्टि में क्या भावना काम कर रही थी। मि० आयंगर ने कहा :—

"अंग्रेजी भाषा के द्वारा हम ने स्वराज्य की लड़ाई लड़ी है और उसे प्राप्त किया है। हम अंग्रेजी भाषा को अपना कर ही आजाद हो सके हैं। तब उसे (अंग्रेजी भाषा को) छोड़ते मुझे दुःख होता है। परन्तु जन-मत हिन्दी के पक्ष में होता जा रहा है ; इस लिए राष्ट्रभाषा के रूप में इसे स्वीकार किया जा रहा है।

परन्तु अंग्रेजी भाषा हमारे जीवन को सदा प्रभावित करती रहे गी।"

यों प्रस्तावना है, मंगलाचरण है! नेहरू जी ने इस मसविदे का जोरदार समर्थन किया। दक्षिण भारतीय सदस्यों में कटुता बढ़ाने का जो उद्योग किया गया था, वह सफल रहा। उन लोगों ने हिन्दी की और 'हिन्दी वालों' की खूब खबर ली! महाराष्ट्र के सपूत श्री शंकर राव देव ने अपना सुन्दर 'देव' रूप प्रकट किया! मदरास की श्री दुर्गा बाई भी विकट रूप में प्रकट हुईं। ऐसा जान पड़ता था कि हिन्दी को संघ की राजभाषा (उस विकृत रूप में) स्वीकार कर के ये लोग हिन्दी पर कोई बड़ा अहसान कर रहे हैं! उन्हों ने बार-बार अप ने 'महान् त्याग' की दुहाई दी कि अंग्रेजी के बदले भारत की एक 'प्रान्तीय भाषा' को संघ की राज-भाषा बना रहे हैं!

श्री आर० वी० धुलेकर ने पूरी शक्ति से हिन्दी का समर्थन किया। श्री धुलेकर ने एक संशोधन रखा, जिस में कहा गया था—

"यह बात पार्लियामेन्ट पर ही छोड़ दी जाय कि देवनागरी हिन्दी को राजकाज की भाषा के रूप में कब से प्रयुक्त किया जाय। उन्हों ने कहा कि श्री गोपाल स्वामी आयंगर ने इसके लिए १५ वर्ष की जो अवधि सुझाई है, वह बहुत लम्बी है। मैं

देवनागराक्षरों और देवनागरांकों सहित हिन्दी को अविशेषित और अविकल रूप से स्वीकार करने का पक्षपाती हूं। मैं एक क्षण के लिए भी किसी अन्य भाषा को देश की सरकारी भाषा नहीं मान सकता।"

श्री धुलेकर ने कहा कि हिन्दी तो देश की राष्ट्रभाषा है ही। जब कुछ सदस्यों ने इस का विरोध किया, तो उन्हों ने कहा कि हिन्दी राष्ट्रभाषा है और संस्कृत अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। हिन्दी देश पर लादी नहीं जा रही। उसे राजभाषा स्वीकृत करना सदियों से चल रही एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की परिणति मात्र है। जो लोग अब भी अंग्रेजी से चिपटे रहना चाहते हैं, उन पर लार्ड मैकाले का प्रेत हँसे गा। इस देश की आजादी अंग्रेजी के बल पर नहीं मिली, बल्कि इस लिए मिली है कि देश में ऐसे लोग भी थे जो अंग्रेजी से विष की तरह घृणा करते थे। मेरा ही उदाहरण लीजिए। यदि मैं अंग्रेजी में वकालत करने को तयार होता तो आज मेरी वकालत धड़ल्ले से चल रही होती, आज भी मैं चाहूं, तो फेडलर कोर्ट में अंग्रेजी में वकालत कर सकता हूं, किन्तु मैं अंग्रेजी में वकालत करने के बजाय गरीब रहना पसन्द करता हूं।

श्री धुलेकर ने मौ० हिफ्जुर्रहमान की "हिन्दुस्तानी" को राष्ट्रभाषा बनाने की मांग का विरोध करते हुए कहा कि मौ० आजाद और श्री रफी अहमद किदवई आदि हजार-एक

मुसलमानों को छोड़ कर शेष सभी मुसलमान इस देश को अपना देश नहीं समझते थे और पृथक् राष्ट्र की मांग का समर्थन करते थे।

"इस पर पं० नेहरू झल्ला उठे और उन्हों ने श्री धुलेकर के इस कथन का विरोध किया।"

श्री टंडन जी का भाषण

विधान-परिषद् में संघ की राजभाषा की समस्या पर अपने प्रौढ़ विचार प्रकट करते हुए राजर्षि टंडन ने कहा।—

"मैं राष्ट्रभाषा-संबंधी सभी पहलुओं पर नहीं कहूंगा क्योंकि कितने ही पहलुओं पर बहुत कुछ कहा जा चुका है।

"मैंने आयंगर-मुंशी मसविदे पर कुछ संशोधन रखे हैं। श्री आयंगर ने मसविदा पेश करते हुए जो भाषण किया है उस पर भी मेरे संशोधन प्रकाश डालते हैं। श्री आयंगर ने कहा कि अंग्रेजी भाषा के बल पर हमें स्वाधीनता मिली और इसलिए अंग्रेजी को १५ वर्ष से भी अधिक समय तक सरकारी काम में लाना चाहिए और १५ वर्ष तक तो अंग्रेजी से ही सरकारी काम-काज चलाना चाहिए। श्री आयंगर ने यह भी कहा कि किसी भी प्रांतीय भाषा ने और हिन्दी ने भी इतनी प्रगति नहीं की कि उस से सरकारी काम चलाया जा सके। श्री आयंगर का समूचा प्रस्ताव इन्हीं दो विचारों पर अवलम्बित है। उन की तीसरी

धारणा यह भी है कि चाहे कुछ भी हो अंग्रेजी अंक अवश्य बने रहें और वे अंक नागरी के एक अंग हो जायँ और जब कभी और जहाँ कहीं नागरी लिपि से काम चलाया जाय, अंग्रेजी अंक कम में लाये जायँ।"

श्री टण्डन ने कहा कि "मैं प्रधान मंत्री की इस बात से सहमत हूं कि राष्ट्र को समय के साथ चलना चाहिए और पीछे नहीं देखना चाहिए। लेकिन आगे बढ़ते हुए उसे यह ध्यान रखना है कि जो लम्बी और शक्तिशाली शृंखला उसे भूतकाल से जोड़ती है, वह टूट न जाए, अपितु और मजबूत बने। हमारा मूल राजनैतिक सिद्धान्त यह होना चाहिए कि हम भूतकाल से सम्बन्ध रख कर वर्तमान काल में रहें। पश्चिम में जो कुछ चमकीला है, वह सब सोना नहीं है। भारत ने ऐसे उच्च विचार और परम्पराएँ पैदा की हैं, जो समययापन के साथ मनुष्य जाति के भाग्य को अधिकाधिक प्रभावित करेंगे। इन सिद्धान्तों के प्रकाश में सभा को प्रस्तावित मसविदे पर विचार करना चाहिए, जिसने कम से कम १५ साल तक के लिए अंग्रेजी का न केवल अक्षुण्ण अस्तित्व अपितु प्रभुता कायम कर दी है। यद्यपि यह आवश्यक है कि अभी कुछ समय तक सरकारी काम-काज के लिये अंग्रेजी का प्रयोग हो, लेकिन यह समय इतना लम्बा नहीं होना चाहिए। मैं दक्षिण-वासियों की कठिनाई को भूला नहीं हूं, लेकिन हिन्दी से वे अपरिचित नहीं हैं। दक्षिण के ५५,००० विद्यार्थी प्रतिवर्ष हिन्दी की

परीक्षाएँ देते हैं। लेकिन मैं पं० पन्त की इस बात से सहमत हो गया कि अवधि का प्रश्न अपने दक्षिणी भाइयों की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। इसीलिए मैं १५ वर्ष के लिये राजी हो गया।"

श्री टण्डन ने पहले ५ वर्षों तक हिन्दी को केवल अतिरिक्त भाषा रखने की व्यवस्था की आलोचना की। "इस के अन्तर्गत किसी प्रान्त का मंत्री कोई भी सरकारी काम हिन्दी में नहीं कर सकता, जब तक उस के साथ अंग्रेजी अनुवाद नत्थी न किया हुआ हो। यह एक कठिन कार्य है।

"इस मसविदे के अन्तर्गत ५ साल के बाद कमीशन नियत किया जायगा, लेकिन मैं चाहता हूं कि ५ वर्ष समाप्त होने के पहले ही वह कमीशन नियुक्त किया जाय। लोक-सभाई समिति अपनी सिफारिशें लोक-सभा को भी पेश करे, केवल कमीशन को ही नहीं। इस के अतिरिक्त अंग्रेजी के प्रयोग वाली उपधारा के शब्द बदले जायं।" श्री टण्डन ने पूछा कि जो प्रान्त अन्य भाषाओं में काम कर रहे हैं, उन के लिये अंग्रेजी का प्रयोग क्यों आवश्यक हो। "उस के शब्द इस प्रकार होने चाहिए कि 'जिस प्रान्त में जिस भाषा में काम हो रहा है, उस में वह उसी भाषा में होता रहे, अगर धारासभा उस के प्रयोग को बन्द करने का कानून नहीं बनाती।' युक्तप्रांत, बिहार और मध्यप्रान्त अपना काम हिन्दी में चला रहे हैं; उन के लिए क्यों आवश्यक हो कि वे

हिन्दी को प्रांत की भाषा करार देने का नये सिरे से एक कानून पास करें।"

श्री टण्डन ने कहा कि "१५ वर्ष तक सर्वोच्च अदालतों व हाई-कोर्टों में अंग्रेजी का प्रयोग पीछे कदम हटाना है। शब्दों की कठिनाई को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाता है। युक्तप्रांत में बिलों और कानूनों की मूलभाषा हिन्दी कर दी गई है तथा ग्वालियर और इन्दौर रियासतों के हाईकोर्टों में हिन्दी में ही काम होता है; क्या सभा अब उसे रोकना चाहे गी? कुछ हाईकोर्ट अंग्रेजी में भी काम करते हैं, लेकिन वे १५ वर्ष से काफी कम समय में ही हिन्दी अपना सकते हैं। युक्तप्रान्त और मध्यप्रान्त में तो हाईकोर्ट ५ वर्षों में अपना सारा कार्य हिन्दी में करने लगें गे। शब्द और परिभाषाओं की हमारे मार्ग में कोई कठिनाई नहीं है। संस्कृत के अपरिमित कोष से हिन्दी शब्दों की सब कठिनाइयों को जीत सकती है।"

श्री टण्डन ने जब अङ्कों का प्रश्न उठाया, तो उन्हें बार-बार टोका गया। 'अङ्कों के प्रश्न ने कुछ कटुता पैदा कर दी है—मैं उस कटुता को कुछ बढ़ाना नहीं चाहता। यह कहना ठीक नहीं कि सब अहिन्दीभाषी क्षेत्र नागरी अङ्कों को बदलना चाहते हैं। मैं श्री शंकर राव देव और डा० अम्बेडकर से पूछता हूं कि क्या महाराष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय अङ्कों को स्वीकार कर लेगा?"

श्री शंकर राव देव—अगर मैं महाराष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता हूं, तो मैं यह कह सकता हूं कि हम अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार कर लें गे।

श्री टण्डन—महाराष्ट्र के विषय में अपने ज्ञान के आधार पर मैं यह कह सकता हूं कि अगर वहां पर जनमत लिया जाय, तो महाराष्ट्रियन अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार नहीं करें गे।

कुछ सदस्यों ने कहा—वाह-वाह। कुछ ने कहा—नहीं-नहीं।

श्री खान्डेकर—मैं महाराष्ट्रियन हूं और यह कहता हूं कि जनमत में महाराष्ट्रियन अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को कदापि स्वीकार नहीं करें गे।

श्री टण्डन ने कहा कि श्री मुंशी के कथन के बावजूद में यह दावा करता हूं कि गुजराती भी अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार नहीं करें गे।

श्री शंकरराव देव—अगर हिन्दी की सारी समस्या को लोगों के सामने रखा जाय, तो वे हिन्दी को स्वीकार नहीं करें गे।

श्री टण्डन—अगर शंका है कि हिन्दी स्वीकार नहीं की जाए गी तो मैं नम्रता-पूर्वक कहता हूं कि मैं जनमत की चुनौती स्वीकार करता हूं। अगर अलग-अलग प्रान्तों ने हिन्दी स्वीकार नहीं की, तो मैं अन्तिम व्यक्ति होऊं गा, जो हिन्दी को दूसरे

प्रान्तों पर थोपे (हर्ष)। मुझे तो यही आशा है कि मद्रास में भी लोग भारी संख्या में हिन्दी के पक्ष में मत देंगे।" (कुछ सदस्य— नहीं-नहीं)।

श्री टण्डन ने इस के बाद सभा से अपील की कि वह भाषा के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे। अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार कर के वह उन अंकों को उन लोगों पर थोप रही हो गी, जिन्हों ने देवनागरी में अपना काम किया है। सभा को इस विषय में अपना निर्णय स्थगित रखना चाहिए। स्वर, व्यञ्जन और अंक तीनो से ही समष्टि रूप में भाषा का विकास होता है। एक भाषा के स्वरों में दूसरी भाषा के स्वर डाल कर भाषा निर्माण नहीं की जा सकती ; यही अंकों का सवाल है।

श्री टण्डन ने कहा कि इस में सन्देह नहीं कि ये अङ्क भारत से अरब और अरब से यूरोप गये। भारत को इस का अभिमान है। लेकिन जो लोग १६०० वर्षों तक नागरी अङ्कों का प्रयोग करते रहे, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय अङ्कों को स्वीकार करने के लिए कहना उचित नहीं। श्री टण्डन ने अनेक प्रमाणों समेत यह प्रतिपादित किया कि नागरी लिपि विश्व की सब से अधिक पूर्ण लिपि है। अङ्कों की समस्या जनता को समझाए बिना नागरी अङ्कों की समाप्ति कर देना अनुचित है।

अन्त में श्री टण्डन ने कहा कि "मैं शान्तिपसन्द आदमी हूं और यथासम्भव कोई झगड़ा पसन्द नहीं करता। मेरी इच्छा है कि भाषा-सम्बन्धी प्रस्ताव हम सर्वसम्मति से पास कर सकें। यद्यपि मैं यह अनुभव करता हूं कि नागरी अङ्कों के मार्ग में कोई बाधा नहीं डाली जानी चाहिए, तो भी दक्षिण के अपने मित्रों की इच्छा का आदर कर के मैं ने एक नया फार्मूला प्रस्तुत किया। मुझे आशा है कि सभा इसे स्वीकार कर ले गी। मेरा कथन है कि देवनागरी लिपि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय और नागरी दोनो अंक मान लिये जायँ और राष्ट्रपति यह निर्देश करते रहें कि कहां अन्तर्राष्ट्रीय अंकों का प्रयोग हो और कहाँ नागरी अंकों का।

"१५ वर्ष में अधिक महत्वपूर्ण कार्य, यथा आंकड़े हिसाब और बैंकिंग का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय अंकों में किया जा सकता है। उस से अन्तर्राष्ट्रीय अंकों की मांग करनेवालों का मुख्य उद्देश्य पूरा हो जाय गा।"

उन्हों ने सभा से अपील की कि वह इस समझौते को स्वीकार कर ले (हर्ष) और नागरी अंकों के स्थान पर सदैव अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को प्रतिष्ठित करने पर जोर न दे। 'नागरी अंक अधिक सुन्दर और कलात्मक हैं। सभा को कटुता से बचना चाहिए। नागरी अंकों का प्रयोग करनेवालों के मन में स्वभावतः उत्तेजना और संघर्ष की भावना पैदा हो गी" (भारी करतलध्वनि)।

संघर्ष का अन्तिम फल

अन्ततः सभी संशोधन गिर गये और 'मुन्शी-आयंगर' सूत्र इस रूप में पास हुआ :—

अध्याय १

(१) भारतीय संघ की राज-भाषा देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी हो गी।

संघ के राजकीय कार्य में भारतीय अङ्कों का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप काम में लाया जाय गा।

(२) पहिली उपधारा के बावजूद विधान के आरम्भ से १५ वर्ष तक संघ में उन सब राजकीय कार्यों में अंग्रेजी काम में आती रहेगी जिन में वह विधान के आरम्भ के समय आती थी।

इस बीच में राष्ट्रपति किसी राजकीय कार्य के लिये अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी और अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के अतिरिक्त देवनागरी अङ्कों के प्रयोग की आज्ञा दे सकते हैं।

(३) लोकसभा १५ वर्ष के बाद कानून बना कर किसी कार्य के लिये (अ) अंग्रेजी भाषा या (ब) देवनागरी अंकों के प्रयोग की व्यवस्था कर सकती है।

भाषा-कमीशन और समिति

३०१ ख

(१) राष्ट्रपति विधान के आरम्भ के ५ वर्ष बाद और १० वर्ष बाद एक कमीशन नियुक्त करें गे और उस की कार्यविधि निर्धारित करें गे।

(२) यह कमीशन राष्ट्रपति को (अ) राजकाज में हिन्दी के क्रमिक प्रयोग (ब) संघ के सब कार्य या कुछ कार्यों में अंग्रेजी का प्रयोग बन्द करने (स) ३०१ ङ में दिये गये कार्यों में प्रयोग की जाने वाली भाषा के बारे में (द) अङ्कों के बारे में और (इ) संघ के राजकीय भाषा सम्बन्धी अन्य मामलों में सुझाव देगा।

(३) इन सिफारिशों में कमीशन भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति का और सरकारी नौकरियों में अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के हितों का ध्यान रखेगा।

(४) ३० सदस्यों की एक समिति बनाई जाय गी जिस में २० सदस्य लोकसभा के हों गे और १० सदस्य राज्य-परिषद् के।

(५) यह समिति कमीशन की सिफारिशों पर अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को दे गी।

(६) राष्ट्रपति इस धारा में दी गई बातों के बावजूद इस रिपोर्ट के अनुसार हिदायतें जारी करें गे।

अध्याय २

प्रादेशिक भाषाएं

३०१ ग

धारा ३०१ द और ३०१ य के अधीन कोई भी राज्य अपने क्षेत्र की किसी भी भाषा को या हिन्दी को राज्य-भाषा बना सकता है।

जब तक राज्य की धारा-सभा दूसरा कानून न बना दे, तब तक अंग्रेजी राज-काज में काम आती रहे गी।

अन्तर्प्रान्तीय भाषा

३०१ घ—उस समय संघ में राजकीय कार्यों में जो भाषा हो गी, वही दो राज्यों के बीच और राज्य और केन्द्र के बीच पत्र-व्यवहार की भाषा हो गी।

किन्तु यदि राज्य सहमत हों, तो वे हिन्दी में आपसी पत्र-व्यवहार कर सकें गे।

वर्गविशेष की भाषा

३०१ घ—राष्ट्रपति जनता के किसी बड़े वर्ग की मांग पर उस की भाषा को किसी कार्यविशेष के लिये राज्य में या राज्य के किसी भाग में मान्य कर सकते हैं।

अध्याय ३

सर्वोच्च न्यायालय की भाषा

३०१ ङ—(१) जब तक लोकसभा कानून द्वारा अन्यथा परिवर्तन न करे तब तक सर्वोच्य न्यायालय और उच्च न्यायालयों की कारवाई की तथा पार्लमेंट और धारा सभाओं में प्रस्तुत बिलों या संशोधनों के, पार्लमेंट या धारासभाओं के स्वीकृत कानूनों के, और विधान के अन्तर्गत निकाले गये आदेशों और नियमों के अधिकृत मूल मसविदों की भाषा अंग्रेजी हो गी।

(२) कोई भी राज्य राष्ट्रपति की अनुमति से राज्य के उच्च न्यायालय की कारवाई में, निर्णयों, डिगरियों और आज्ञाओं के अतिरिक्त अन्य कार्यों में हिन्दी या राज्य की अन्य स्वीकृत भाषा का व्यवहार कर सकता है।

(३) राज्य में उक्त कार्यों में अंग्रेजी से भिन्न भाषा का व्यवहार होने पर बिलों, विशेपादेशों, और कानून के रूप में अज्ञाओं का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित करना हो गा।

३०१ च—१५ वर्प के समय में भापा के संबंध में कोई बिल या संशोधन राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के विना राज-सभा के दोनो में से किसी भी भवन में प्रस्तुत न किया जायगा, और राष्ट्रपति उस को प्रस्तुत करने की अनुमति न दें गे—जब तक वह भापा-कमीशन की सिफारिशों और समिति की रिपोर्टों पर विचार न कर लें गे।

अध्याय ४

विशेप हिदायत

३०१ छ—शिकायत-सम्बन्धी-आवेदन। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शिकायत दूर कराने के लिए संघ या राज्य के किसी भी अधिकारी को संघ या राज्य में व्यवहृत किसी भी भापा में आवेदन-पत्र दे सकता है।

हिन्दी का विकास

३०१ ज—संघ का कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी का प्रचार करे और उसे विकसित करे, जिस से वह भारत की मिश्रित संस्कृति के सब वर्गों के विचार-प्रकाशन का साधन बन सके। वह हिन्दुस्तानी और भारत की अन्य भापाओं में व्यवहृत रूपों, शैलियों और अभिव्यक्तियों को हिन्दी में उस के सौष्ठव को बिगाड़े बिना समाविष्ट करावे और जहां आवश्यक और

वांछनीय हो वहां नये शब्द मुख्यतः संस्कृत से ले और गौणतः दूसरी भाषाओं से ले।

अनुसूची सात : प्रादेशिक भाषाएँ

आसामी, बंगला, कन्नड़, गुजराती, हिन्दी, काश्मीरी, मलयालम, मराठी, संस्कृत, उड़िया, पंजाबी, तमिल, तेलगू, उर्दू।

('निर्णय' की अनुसूची में अन्य भाषाओं के साथ उर्दू भी प्रादेशिक भाषाओं में रखी गयी है! पर हमें पता नहीं कि यह किस प्रदेश की भाषा है!)

'सम्मेलन' का मत

'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' जब तक राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी इस 'निर्णय' पर अपना मत प्रकट करे, उस से पहले ही हर्ष के डंके बजाये जाने लगे और ऐसा भाव प्रकट किया जाने लगा, जैसे सब कुछ पूर्ण हो गया हो! बधाइयां भी दी जाने लगीं।

भूल जाओ

अन्त में विधान-परिषद् के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि "भाषा-सम्बन्धी जो निर्णय परिषद् ने किया है, सर्वोत्तम है। अंक कई तो हिन्दी और अंग्रेजी के एक से ही हैं। पांच-छह अंकों की बनावट में कुछ अन्तर है। परन्तु दक्षिण भारत के लोगों ने जब हिन्दी को राजभाषा मान लिया है, तो उन के कहने से हमें भी अंग्रेजी के अंक हिन्दी में स्वीकार ही करने चाहिए, जो हम ने स्वीकार कर लिये हैं। अब सब ठीक हो गया

है। जिन सदस्यों के संशोधन स्वीकार नहीं किये गये, उन्हें अपने मन में क्षोभ न लाना चाहिए और वाद-विवाद में जो कटुता आ गयी थी, उसे भूल जाना चाहिए।"

जो कुछ हुआ, उस की व्याख्या

विधान-परिषद् ने राजभाषा के सम्बन्ध में जो निर्णय किया, उस में भावना क्या है, इस की व्याख्या उन कामों से हो गयी, जो अगले दो दिन में ही 'परिषद' ने किये।

पहली बात तो यह हुई कि यह निर्णय किया गया—'विधान अंग्रेजी भाषा में ही पास हो गा; यद्यपि उस का अनुवाद हिन्दी में तथा दूसरी भाषाओं में भी करा दिया जाय गा।' इस पर कुछ सदस्यों ने कहा कि "हिन्दी में लिखा विधान भी 'परिषद' द्वारा पास होना चाहिए, जिस से कि वह भी प्रामाणिक माना जाय। यदि ऐसा न किया गया और विधान केवल अंग्रेजी भाषा में ही पास किया गया, तो फिर अंग्रेजी भाषा इस देश पर अनन्त काल तक लदी रहे गी; क्योंकि विधान को समझने के लिए न्यायाधीशों को, कानून के विशेषज्ञों को और राज्य के संचालकों को अंग्रेजी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य हो जाय गा। छात्रों पर सदा अंग्रेजी का भूत सवार रहे गा; क्योंकि ऊपर पहुंचने के लिए वे उस की अनिवार्यता समझें गे। जो अंग्रेजी न पढ़े गा, उस की कोई कदर न हो गी। वह राज-काज में भी वैसा दखल न रख

सके गा। तब हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का फल क्या हुआ ? अंग्रेजी को हम उसी तरह पढ़ें-पढ़ाएँ गे, जिस तरह रूस और जापान आदि में वह चलती है। परन्तु हम उस के एकान्त बन्धन में नहीं पड़ना चाहते। इस लिए अंग्रेजी के साथ हिन्दी में भी विधान स्वीकार होना चाहिए।"

सदस्यों की यह प्रार्थना ठुकरा दी गयी और केवल अंग्रेजी भाषा में लिखित विधान स्वीकार करने का निर्णय हुआ।

दूसरी बात देश के नाम के सम्बन्ध में हुई। इस देश के नाम रखे गये—'१—इण्डिया या २—भारत'। संसार में यही एकमात्र ऐसा देश है, जिस ने अपने संविधान में अपने दो नाम रखे हैं! श्री हरिविष्णु कामथ ने कहा कि शब्दों में फेर-फार कर दिया जाय और देश के नाम—'भारत या इण्डिया' कर दिये जायँ। "भारत' पहले कर देने से राष्ट्रीयता को बल मिले गा और मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़े गा।" परन्तु श्री कामथ की यह प्रार्थना न सुनी गयी। देश का नाम 'इण्डिया' रहा और स्वीकार किया गया कि इसे 'भारत' भी कहते हैं।

सब का फलितार्थ

इस सब कारंवाई का फलितार्थ यह निकला कि अनन्त काल तक हमारे सिर पर अंग्रेजी इसी तरह लदी रहे गी। उस के साथ हिन्दी भी नत्थी कर दी गयी है, बड़ी दया कर के, बड़ा

अहसान कर के। परन्तु अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी उसी स्थिति में सदा रहे गी, जिस स्थिति में रानी के साथ उस की बाँदी रहती है !

हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित करते समय तो बार-बार यह कहा गया था कि अहिन्दी-भाषी जनता पर हिन्दी लादी जा रही है ; पर देश का नाम 'भारत' रखने में क्या आपत्ति थी ? इस में कौन-सी भाषा सीखनी थी ? स्वतन्त्र होने पर 'आयर-लेण्ड' ने अपना नाम 'आयर' कर लिया, 'सीलोन' ने अपना नाम 'श्री लंका' कर लिया, 'पर्शिया' लगभग बीस वर्ष पहले 'ईरान' बन चुका, यहूदियों ने अपने नव निर्मित राज्य का नाम अपनी भाषा में अपने पुरखों के नाम पर 'इजरायल' रखा, मि० जिन्ना ने भी लड़-झगड़ कर जो नया राज्य बनाया, उस का नाम 'पाकिस्तान' रखा ; परन्तु हमारे देश का नाम मुख्यतः 'इंडिया' रहा !

राष्ट्र का मत

ता० ३० अक्टूबर १९४९ के दिन सम्पूर्ण राष्ट्र में 'राष्ट्रभाषा-दिवस' मनाया गया और माँग की गयी कि हिन्दी में अंग्रेजी अङ्कों का प्रयोग न किया जाय तथा संघ-सरकार की भाषा के रूप में अंग्रेजी के चलन की अवधि को पन्द्रह वर्ष से कम किया जाय। यह भी कहा गया कि यदि यह अवधि कम न की जाय, तो ऐसी गति-विधि सरकार स्वीकार करे और इस गति से हिन्दी

को प्रगति दे कि पन्द्रह वर्ष के अनन्तर एक दिन भी आगे अंग्रेजी की जरूरत न रहे और सम्पूर्ण राज-काज अपनी भाषा द्वारा ही हो।

अवश्य ही इस लोकमत का प्रभाव संविधान-परिषद् पर पड़े गा, और अपनी गलती ठीक करनी पड़े गी।

इस इतिहास से पता चला कि इस देश की स्वतंत्रता से भी अधिक संघर्षमय इस की राष्ट्रभाषा की समस्या रही है, और इस के सुलझाने में राष्ट्र के एक उत्तम सांस्कृतिक अङ्ग की तीन पीढ़ियों की कठोर तपस्या ने काम किया है।

जय हिन्दी—जय नागरी

'सम्मेलन' का निर्णय

केन्द्रीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थायी समिति ने अपनी २८ तथा २६ सितम्बर की महत्त्वपूर्ण बैठक में संविधान-परिषद् के राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी 'निर्णय' पर गम्भीर विचार किया, जिस में राजर्षि टंडन भी उपस्थित थे। टंडन जी ने १६४६ से १४ सितम्बर १६४६ तक की सब घटनाओं का तथा उलटफेरों का संक्षिप्त विवरण स्थायी समिति को दिया। इस के अनन्तर स्थायी समिति ने सर्वसम्मति से अपना ऐतिहासिक निर्णय दिया, जो ज्यों का त्यों यहां उद्धृत किया जाता है—

"हिन्दी साहित्य सम्मेलन की यह स्थायी समिति संविधान-

परिषद् के भाषा-सम्बन्धी उस निर्णय पर, जो १४ सितम्बर को किया गया, अपना निम्नलिखित मत प्रकट करती है :

"(क) निर्णय के प्रारम्भिक अंश में देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी भाषा को केन्द्रीय शासन की राजकीय भाषा स्वीकार कर संविधान-परिषद् ने उचित कार्य किया है। इसी की उससे आशा थी, क्योंकि देश की बहुसंख्यक जनता और देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं के अधिकांश साहित्यिकों के बीच लगभग ७५ वर्ष से हिन्दी भारत की मानी हुई राष्ट्रभाषा और देवनागरी राष्ट्रलिपि रही है; परन्तु इस अंश के रहते हुए भी परिषद् ने भाषा को महत्त्वपूर्ण प्रश्न को विकृत दृष्टिबिन्दु से देखा है। अंग्रेजी भाषा के पुराने प्रभुत्व का अनुचित प्रभाव, हिन्दी भाषा की शक्ति और उसके शाब्दिक भंडार का अज्ञान, अंग्रेजी भाषा के जानकार और उसी के द्वारा कार्य करने की इच्छा रखने वाले अल्पसंख्यक जनों की सुविधा की चिन्ता और देश भर की जनता की अभिलाषाओं और आवश्यकताओं का अनादर, इन गहरे दोषों से सम्पूर्ण निर्णय दूषित है। यह स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को सैद्धान्तिक मान्यता दे कर अंग्रेजी भाषा को केन्द्रीय शासन में कम से कम १५ वर्ष रखा गया है, और यथासंभव इस से भी अधिक समय तक चलाने का प्रयत्न किया गया है।

"(ख) सब से अधिक अनर्गल और अनधिकृत निर्णय संविधान परिषद् का यह हुआ है कि देवनागरी लिपि में प्राचीन

देवनागरी अंकों के स्थान पर अंग्रेजी अंकों का प्रयोग किया जाय, जिस को उस ने भारतीय अंकों के अन्तरराष्ट्रीय रूप का नाम दे कर अपने निर्णय के दोष को छिपाने का यत्न किया है।

"(ग) यह समिति सम्पूर्ण निर्णय को देखते हुए उस से अपना असन्तोष प्रकट करती है और संविधान परिषद् को यह सूचना देना चाहती है कि देवनागरी लिपि का अंग्रेजी अङ्कों द्वारा विरूपण देश की जनता को कदापि स्वीकार न होगा। संविधान-परिषद् से समिति का निवेदन है कि संविधान की अन्तिम स्वीकृति से पहले वह अङ्क सम्बन्धी अपने निर्णय को परिवर्तित करे, अंग्रेजी भाषा के चलने का समय भी अधिक सीमित करे तथा हिन्दी को वास्तविक रूप में राजभाषा होने के अवसर, अल्प मात्रा से प्रारम्भ कर बढ़ती हुई मात्रा में, देने की योजना करे जिसमें अंग्रेजी का प्रयोग बिना दीर्घकाल बीते राजकार्य से पूर्णतः उठ जाय और सब केन्द्रीय कार्यों में हिन्दी का ही प्रयोग हो।"

'सम्मेलन' ने ३० अक्टूबर १९४९ का दिन 'राष्ट्रभाषा-दिवस' मनाने के लिए घोषित किया और राष्ट्र की जनता को प्रेरणा दी कि इस दिन हिन्दी में अंग्रेजी अङ्कों के प्रयोग का जोरदार विरोध किया जाय और अंग्रेजी के चलन की अवधि को कम करने की मांग की जाय।

परिशिष्ट—१

हिन्दी, उर्दू, और 'हिन्दुस्तानी' के रूप

पीछे यथाप्रसंग वतलाया गया है कि महात्मा गान्धी सन् १६१५ से सन् १६३५ के इधर-उधर तक इस पक्ष का समर्थन करते रहे कि इस महादेश की राष्ट्रभाषा नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी होनी चाहिए। इस के वाद, एक सम्प्रदाय की 'भाषा तथा संस्कृति' को संरक्षण देने के अभिप्राय से 'हिन्दुस्तानी' भाषा का समर्थन आप राष्ट्रभाषा-पद के लिए करने लगे और उस के लिए दो लिपियों का समर्थन किया—नागरी तथा फारसी। अर्थात् नागरी तथा फारसी लिपियों का जानना राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को अनिवार्य, जिन में 'हिन्दुस्तानी' राष्ट्रभाषा रहे। न विशुद्ध हिन्दी, न खास उर्दू, ज़बान गोया मिली-जुली हो, जिस का नाम 'हिन्दुस्तानी'।

महात्मा जी सन् १६३५ से पूर्व कैसी भाषा चाहते थे और उस के अनन्तर कैसी पसन्द करने लगे; यह वैसे तो स्पष्ट कर दिया गया है; परन्तु राष्ट्रभाषा के इतिहास में उन की उस द्विविध भाषा के नमूने यदि उन्हीं के शब्दों में न दिये जायँ, तो बात बहुत साफ सामने न आये गी; जैसे सामने नक्शा रखे बिना भूगोल का वर्णन पूरी तरह समझ में नहीं आता है।

राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में महात्मा जी की धारणा क्यों बदली, स्पष्ट है। अब हम उन की अपनी भाषा के कुछ उद्धरण दें गे।—

सन् १९३५ से पहले महात्मा जी की भाषा

"सन् १८८८-८९ में जब गीता का प्रथम दर्शन हुआ, तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है; वरन इस में भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरन्तर होते रहने वाले द्वन्द्व-युद्ध का ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है। यह प्राथमिक स्फुरणा धर्म का और गीता का विशेष विचार करने के बाद पक्की हो गयी। 'महाभारत' पढ़ने के बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत ग्रन्थ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानता। इस के प्रबल प्रमाण 'आदि पर्व' में ही हैं। पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन कर के व्यास भगवान् ने राजा-प्रजा के इतिहास को मिटा दिया है। उस में वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक भले ही हों; परन्तु महाभारत में तो उन का उपयोग व्यास भगवान् ने केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

"महाभारत-कार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता नहीं, उस की निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता से रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःख के सिवा और कुछ नहीं रहने दिया!

"गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण 'ज्ञान' हैं। परन्तु काल्पनिक। यहाँ 'कृष्ण' नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नहीं है। केवल सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं। सम्पूर्णावतार का आरोप पीछे से हुआ है।

" 'अवतार' से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष-विशेष। जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं; परन्तु लौकिक भाषा में सब को 'अवतार' नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सब से श्रेष्ठ धर्मवान् है, उसे भावी प्रजा 'अवतार'-रूप से पूजती है। इस में मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता; इस में न तो ईश्वर के बड़प्पन में कमी आती है और न सत्य को आघात पहुँचता है। "आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" जिस में धर्म-जागृति अपने युग में सब से अधिक, वह विशेषावतार है। इस विचार-श्रेणी से कृष्णरूपी सम्पूर्णावतार आज हिन्दू-धर्म में साम्राज्य भोग रहा है।"

इस भाषावतरण से आप समझ सकते हैं कि पहले महात्मा जी की राष्ट्रभाषा का स्वरूप क्या था। वे तब तक केवल नागरी लिपि के पक्षपाती थे।

सन् १९३५ के बाद महात्मा जी की भाषा

सन् १९३५ के अनन्तर महात्मा जी के राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी विचार बदले, जो अन्त तक दृढ़ रहे। बहुत सम्भव है, कभी महात्मा जी के विचार फिर एक बार बदलते और वे पुनः नागरी-

हिन्दी का ही पक्ष एकनिष्ठ हो कर ग्रहण करते। पर ऐसा न हुआ और सन् १९४८ के प्रथम मास में ही हम से अलग हो गये। वे अपने अन्तिम क्षणों तक राष्ट्रभाषा के जिस रूप का पोषण करते रहे, उन के उन प्रवचनों से स्पष्ट है, जो २९ जनवरी १९४८ तक दिल्ली में होते रहे। उन्हीं प्रवचनों में से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हैं।—

(२ जुलाई १९४७)

"लोग कहते हैं कि तू तो बहुत दिनों से 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' में था। जब वहाँ था, तो हिन्दी को बहुत बड़ी बताता था। दक्षिण में पहले हिन्दी चलाता था। वहाँ तो लोग तामिल को मानते थे। वहाँ तू ने हिन्दी चला दी। तू ने इतना हिन्दी का काम किया। यह बहुत था। फिर 'हिन्दुस्तानी' क्यों?

"इस का जवाब यह है कि मेरी 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी में से आयी है। मैं इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन[1] में गया। मारवाड़ी-सम्मेलन में भी जमनालाल जी के प्रेम से चला गया था। वहाँ प्रेम मुझ को घसीट ले गया। वहीं मैं ने कह दिया था कि मेरी हिन्दी तो अजीब प्रकार की है; जिसे हिन्दू भी बोलते हैं, मुसलमान भी बोलते हैं। उसे उर्दू में (फारसी लिपि

१—यहाँ महात्मा जी का तात्पर्य इन्दौर के दूसरे अधिवेशन से जान पड़ता है, जब उन के भाषा-सम्बन्धी विचार बदल रहे थे और उन से सम्मेलन को भी वह रंग देना चाहते थे।

में) लिखो, चाहे देवनागरी में लिखो—ऐसी मेरी हिन्दी है। मेरी हिन्दी वह नहीं है, जो साक्षर बोलते हैं। मैं तो टूटी-फूटी हिन्दी बोलता हूँ। मगर आप समझ लेते हैं। मैं ने तुलसी-दास पढ़ लिया है, पर मैं हिन्दी में साक्षर नहीं हुआ हूँ। उर्दू में भी साक्षर नहीं बना हूँ; क्योंकि मेरे पास उतना वक्त नहीं है। मैं ने ऐसी हिन्दी चलायी; पर वह नहीं चली, तो मैं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से निकल आया।

"संस्कृतमयी बोली तो हिन्दी हो सकती है और उर्दू भी आज ऐसी हो गयी है, जिसे मौलाना (आजाद) साहब बोल सकते हैं या सप्रू साहब। इसी लिए मैं ने कहा कि न मुझे हिन्दी चाहिए, न उर्दू। मुझे गंगा-जमुना का संगम चाहिए। पर लोग कहते हैं कि तू तो मूर्ख है! जहाँ 'अंजुमन तरक्की ए उर्दू' है, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन है, जो हिन्दी का बड़ा काम करता है, वहाँ तेरी बात नहीं चले गी। और जब पाकिस्तान बन गया है, तो भी तू 'हिन्दुस्तानी' की बात करता है?

"लेकिन मेरा दिल तो बागी हो गया है। वह कहता है कि मैं क्यों 'हिन्दुस्तानी' को छोड़ूँ? अगर मैं अकेला रहूंगा, तो भी यही कहूंगा कि मैं तो 'हिन्दुस्तानी' को ही राष्ट्रभाषा मानता हूं। कोई ऐसी गलती न करे कि उर्दू को भूल कर हिन्दी ही ले।"

महात्मा जी की यह भाषा यदि 'हिन्दुस्तानी' है, तो फिर कोई

बतला नहीं सकता कि हिन्दी में और इस में अन्तर क्या है ? 'सम्मेलन' इसी भाषा का समर्थन करता है और इसी का प्रचार करता है। हिन्दी साहित्य की अनन्त राशि में यही भाषा मिलेगी। सम्मेलन ने कभी भी ऐसी भाषा का विरोध नहीं किया है। यही तो उस की हिन्दी है। परन्तु 'हिन्दुस्तानी' का जो रूप श्री सुन्दर लाल जी ने तथा डा० सैय्यद आदि ने उपस्थित किया हैं, सम्मेलन उसे स्वीकार नहीं करता। हाँ, लिपि की एकता सम्मेलन चाहता है और एकमात्र नागरी लिपि का वह पक्षपाती है।

सारांश यह कि ऊपर जिस भाषा में महात्मा जी ने 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन किया है, उसे ही हम लोग हिन्दी कहते हैं। तब, यहाँ तो स्वरूप में कोई भेद है ही नहीं !

(१५ अक्टूबर १९४७)

"सारे हिन्दुस्तान के एक चौथाई मुसलमान यू० पी० में भरे हैं। वे उर्दू बोलते हैं। अगर उन को वहाँ रहने देना है, तो देवनागरी लिपि नहीं होनी चाहिए। मालवीय जी महाराज ने भी हिन्दी के लिए बहुत काम किया था। मगर 'उर्दू जबान को काट डालो' ऐसा कहते मैं ने उन को कभी नहीं सुना। यू० पी० में आज जिन लोगों के हाथ में सत्ता है, वे बहुत बड़े हैं और अच्छे काम करने वाले हैं। वे मुसलमानों को अपने साथ रखते हैं। मगर एक तरफ तो मैं यह कहूं कि मुसलमान यहाँ से न

जायँ और दूसरी तरफ उन की तौहीन करता रहूं और उन को गुलाम बना कर रखने की कोशिश करूँ, तो फिर वे खुद ही मजबूर हो कर चले जायँ गे। अगर मेरी तादाद वहाँ बहुत ज्यादा है, तो क्या मैं इतना घमंडी बन जाऊँ कि दूसरे लोगों को बर्दाश्त ही न करूँ! ऐसा तो हम से होना ही नहीं चाहिए। सब को हिन्दी (नागरी) और उर्दू (फारसी) इन दोनो लिपियों में लिखना सीखना चाहिए। हिन्दू भी कितने ही ऐसे हैं, जो केवल उर्दू जानते हैं। सर तेज बहादुर सप्रू तो एक बड़े उर्दूदां हैं। क्या उन को देवनागरी लिपि में लिखने के लिए मजबूर किया जाय गा? क्या उन से यह कहा जाय गा कि तुम उर्दू को भूल जाओ? अगर हम ने ऐसा किया, तो हमारी ज्यादती की इन्तहा होने वाली है। अतः वहाँ (यू० पी०) की हुकूमत को, यद्यपि वह मेरे हाथ में नहीं है, मगर मुहब्बत से मैं उस से कह सकता हूं कि जो (नागरी-हिन्दी-सम्बन्धी) सर्कूलर उन्हों ने जारी किया है, उसे वे वापस ले लें।"

महात्मा जी ने यहाँ युक्तप्रान्तीय सरकार की नागरी-हिन्दी सम्बन्धी नीति की आलोचना जिस भाषा में की है, वह भी हिन्दी ही है; उसे 'हिन्दुस्तानी' बनाने के लिए जो (ज़बान, मगर, तादाद, खुद, मजबूर, बर्दाश्त, इन्तहा, ज्यादती, आदि) शब्द आये हैं, उन से कुछ अन्तर पड़ा अवश्य है; पहले की अपेक्षा यहाँ झुकाव दूसरी ओर स्पष्ट अधिक है; पर इतना नहीं कि इसे 'हिन्दुस्तानी' कहा जा सके। हिन्दी साहित्य के आचार्य

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा की साहित्यिक हिन्दी में इस अनुपात से कम शब्द फारसी आदि के नहीं हैं। फिर भी, ऐसा जान पड़ता है कि अपनी स्वाभाविक हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' बनाने के उद्देश्य से, उस में कुछ वैसे अनमिल शब्द महात्मा जी ले आये हैं। यह होने पर भी, महात्मा जी की यह भाषा हिन्दी ही है। सम्मेलन इसे भी अस्वीकार नहीं करता। हां, दो लिपियों की अनिवार्य्यता उसे मान्य नहीं और 'हिन्दुस्तानी' का जो रूप दूसरे लोग प्रकट कर रहे हैं, उसे वह उर्दू ही समझता है।

(२३ अक्टूबर १९४७)

"एक शिविर तो, जो कुरुक्षेत्र में है, मकरजी सरकार ने अपने प्रबन्ध में ले लिया है।"

स्पष्टतः यहां 'केन्द्रीय' की जगह 'मकरजी' कर के हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' का रूप दे दिया गया है। मगर, ज्यादा, खुद आदि बीसों शब्दों के आने से भी हिन्दी 'हिन्दुस्तानी' नहीं बनी ; पर एक 'मकरजी' ने उसे 'हिन्दुस्तानी' नाम से न जाने क्या बना दिया ! इसी 'हिन्दुस्तानी' का हम विरोध करते हैं। इस के आगे और भी।—

(२५ अक्टूबर १९४७)

"मैं बहुत पुराना कैदी हूं, जनूबी अफ्रीका से। मैं यह कह

सकता हूं कि मेरी निगाह में तो मैं बेगुनाह था ; लेकिन सल्तनत के नजदीक तो बेगुनाह नहीं कहा जा सकता था ! कई किस्म की जेल मुझे मिली है।"

इस उद्धरण में निगाह, गुनाह, बेगुनाह, किस्म आदि शब्द भरती के हैं ; हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' बनाने के लिए। यह अनुपात महात्मा जी के प्रवचनों में आगे प्रायः बढ़ता ही गया है। परन्तु इन विदेशी शब्दों के आ जाने पर भी यह उद्धरण हिन्दी का ही कहलाता, यदि 'जनूबी' शब्द न होता। 'दक्षिणी अफ्रीका' न सही, 'दक्खिनी अफ्रीका' तो सब बोलते-समझते हैं न ? 'जनूबी' कौन समझे गा ? यदि 'जनूबी' का अर्थ 'दक्षिणी' बतला न दिया जाय, तो बी० ए० और एम० ए० लोग भी, उस का अर्थ जानने के लिए, मुल्ला-मौलवी की शरण में जायँ गे ! साधारण जनता की तो बात ही क्या ! साधारण मुसलमान भी 'जनूबी' न समझ पाये गा ! वह भी पूरब, पच्छिम, उत्तर, दक्खिन बोलता है, मगरिब, मशरिक और जनूब आदि नहीं। इन्हीं शब्दों ने हिन्दी को 'उर्दू' बनाया था और अब हिन्दी को 'हिन्दोस्तानी' बनाने के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग पूज्य महात्मा जी को भी करना पड़ा—कुछ 'साम्प्रदायिक' जनों को खुश करने के लिए ! अन्यथा, महात्मा जी विशुद्ध हिन्दी लिखते थे और उसी (विशुद्ध हिन्दी) में 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन करते थे। उन के ऊपर वाले उद्धरण से यदि 'जनूबी' शब्द निकल जाय, तो वह हिन्दी ही है।

इस का मतलब यह हुआ कि महात्मा जी ने कुछ ('साम्प्रदायिक') लोगों का ध्यान में रख कर या उन की बात मान कर 'हिन्दुस्तानी' का पक्ष ले लिया था ; परन्तु व्यवहारतः उन की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही थी। कारण, उन की मातृभाषा (गुजराती) में सत्तर प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं और उन्हें फारसी-अरबी तो क्या, उर्दू की भी शिक्षा न मिली थी।

परन्तु पं० जवाहर लाल नेहरू, श्री सुन्दर लाल जी तथा दूसरे 'हिन्दुस्तानी'-समर्थकों की 'हिन्दुस्तानी' तो उर्दू ही रही है, जो उन के लेखों में प्रकट है। इस से भी आगे मौलाना आजाद, श्री आसफ अली और डा० सैय्यद महमूद की 'हिन्दुस्तानी' है, जो फारसी की सगी बेटी समझिए। इधर, उस 'अफगान-मिशन' द्वारा संस्कृत की बात सुन कर श्री आसफ अली भी संस्कृत के पक्ष में बोले और डा० सैय्यद महमूद भी। डा० महमूद के मुँह से एक विचित्र बात सुनने को मिली। आप 'उर्दू' शब्द को ही संस्कृत मानते हैं! कहते हैं, 'उर्दू' शब्द फारसी-अरबी का नहीं, संस्कृत का है और इसी लिए ग्राह्य है, राष्ट्रभाषा का नाम उर्दू रहे, राष्ट्रभाषा उर्दू बने !

हम इन सब महारथियों की 'हिन्दुस्तानी' के नमूने यहाँ दें, इस के लिए गुंजाइश नहीं है। यह तो राष्ट्रभाषा की अति संक्षिप्त कहानी है। पाठकों को इन नेताओं की 'हिन्दुस्तानी' सर्वत्र सुलभ है।

उर्दू और हिन्दुस्तानी का अन्तर

इस पुस्तक में यथास्थान बतलाया गया है कि हिन्दी का रूप क्या है और उस में क्या-कुछ आ जाने से, उसी के एक रूप को 'उर्दू' कहने लगे ; अर्थात् हिन्दी की ही एक शैली का नाम उर्दू है, जो लिपि, भाव-व्यञ्जना तथा प्रयोग-विशेष (व्याकरण) में अरब तथा ईरान आदि से प्रभावित है। यदि इस विदेशी प्रभाव के अनावश्यक अंश को दूर कर दिया जाय, तो फिर उर्दू हिन्दी बन जाय गी। हिन्दी के बढ़ते हुए प्रभाव को और राष्ट्रीयता की लहर को देख कर कुछ बुद्धिमान् लोगों ने 'हिन्दुस्तानी' नाम से एक नयी भाषा की नीवँ डाली, जिसे संस्कृत तथा अरबी-फारसी के अवांछित प्रभाव से अलग रख कर देशी तथा विदेशी (नागरी और फारसी) दोनो लिपियों में लिखना स्वीकृत किया और इसी को राष्ट्रभाषा का रूप देना चाहा। परन्तु ऐसे लोग असफल रहे ; यहाँ तक कि 'साहित्य' शब्द के बदले भी कोई 'हिन्दुस्तानी' शब्द न मिला। 'अदब' तो विदेशी शब्द है और हिन्दी में इस का अर्थ दूसरा ही प्रसिद्ध है। तब 'लिटरेचर' लिखने लगे ; या 'अदब (साहित्य)' किंवा 'साहित्य (अदब)' इस तरह दुहरा बोझ लादा ! फिर भी, आग्रह अभी चल ही रहा है।

इस प्रसंग में जरूरी है कि हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी का रूप-भेद अच्छी तरह समझने के लिए प्रामाणिक उद्धरण दिये

जायँ। हिन्दी का नमूना देने के लिए उद्धरण आवश्यक नहीं; क्यों कि यह पुस्तक हिन्दी में ही लिखी है और हिन्दी का नमूना यह स्वयं है। हाँ, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी का स्वरूप तथा अन्तर समझने के लिए आवश्यक उद्धरण चाहिए; सो नीचे दिये जा रहे हैं।

उर्दू का नमूना

'हयात जावेद' में मौलाना हाली फरमाते हैं:—

"उर्दू ज़बान, जो दरहक़ीक़त हिन्दी भाषा की एक तरक्क़ीयाफ़्तह सूरत है और जिस में अरबी व फ़ारसी के सिर्फ़ किसी क़दर अस्मा उससे ज़्याद: शामिल नहीं हैं कि जितना कि आटे में नमक होता है, उस को हमारे हमवतन भाइयों ने सिर्फ़ इस बिना पर मिटाना चाहा कि उस की तरक्क़ी की बुनियाद मुसल्मानों के अहद में पड़ी थी।

चुनांचह सन् १८६७ ई० में बनारस के बाज़ सरबरआवरदह हिन्दुओं को यह खयाल पैदा हुआ कि जहाँ तक मुमकिन हो, तमाम सरकारी अदालतों में से उर्दू ज़बान और फ़ारसी ख़त के मौक़ूफ़ कराने में कोशिश की जाय और बजाय उस के भाषा ज़बान जारी हो, जो देवनागरी में लिखी जाय।"

मौलाना हाली का उपर्युक्त कथन गलत है। हिन्दी के किसी भी समर्थक ने आज तक किसी भी भाषा या लिपि को 'मौक़ूफ़'

कराने का कोई आन्दोलन नहीं किया है। वह आन्दोलन तो इस के लिए था कि उर्दू-फारसी के साथ-साथ हिन्दी-नागरी को या उर्दू-नागरी को भी अदालत में स्थान मिल जाय। इसी के लिए वह परिश्रम था, जिस में अभी सफलता नहीं मिली है! युक्त प्रान्त की राजभाषा हिन्दी घोषित हुए यह दूसरा वर्ष समाप्त हो रहा है; परन्तु अदालतों में, इस युक्त प्रान्त की अदालतों में भी, कैसी भाषा चल रही है, अदालती सम्मनो में देखिए—

सम्मन

"श्री अक्षयचन्द वन्सल मुंसिफ शहर कानपुर की आज्ञानुसार:—

"हुक्म इम्तनाई दरहालेकि जायदाद गैर मनकूला बइल्लत इजराय डिगरी काबिल कुर्की है।

(आर्डर २१ कायदा ५४)

"ब अदालत मुंसफी शहर मुकाम कानपुर जिला कानपुर।

"मुकद्दमा नम्बर ८६८ बाबत सन् १६४७ ई० इजरा नम्बर १६२।४६।

"लाला मंगली प्रसाद वल्द लाला काशी प्रसाद कौम वैश्य व रामशरण वल्द रामधनी कौम वैश्य साकिन हटिया बाजार कानपुर मुदई मालकान फर्म मंगली प्रसाद रामशरण।

बनाम

"मेसर्स रूपराम सुखदेव प्रसाद वाकै दालमण्डी शहर कानपुर।

मुद्दाअलेह

"बनाम मेसर्स रूपराम सुखदेव प्रसाद वाके दालमण्डी शहर कानपुर वजरिये १ शिवप्रसाद उर्फ मन्नालाल वल्द रूपराम व सुखदेव प्रसाद उर्फ मन्नालाल वल्द रूपराम व वलायत मुन्नालाल बिरादर हकीकी खुद व श्री सोनकली देवी बेवा रूपराम अक़वाम ब्राह्मण साकिनान मीरपुर छावनी शहर कानपुर व महावीर प्रसाद वल्द नामालूम व रामऔतार वल्द महावीर प्रसाद कौम ब्राह्मण साकिन रेलबाजार शहर कानपुर श्री ठाकुर अवधविहारी जी विराजमान बंगला रूपराम एलट रोड मीरपुर छावनी कानपुर वजरिये सोनकली देवी बेवा रूपराम सरबरहकार श्री ठाकुर जी व बुद्धसेन तिवारी वल्द पं० बनारसीलाल सा० जुही कानपुर व पं० रामप्रसाद वल्द रायसाहब पं० गोमती प्रसाद सा० एलट रोड शहर कानपुर व रामनारायण अग्निहोत्री वल्द पं० सरजू प्रसाद ऐलट रोड शहर कानपुर व कृष्णादत्त शुक्ला वल्द पं० रघुनन्दनलाल सा० ऐलट रोड कानपुर व देवकीनन्दन तिवारी सा० सीसमऊ शहर कानपुर ट्रस्टी मुद्दालेहय—मदयून।

"हरगाह आपने ईफा उस डिगरी का नहीं किया जा आप पर बतारीख १८ माह नवम्बर सन् १६४८ ई० बमुकद्दमा नम्बर ८६८ सन् १६४७ ई० बहक बाबत मुबलिग ४६१५॥=)॥ सादिर हुई थी लिहाजा हुक्म दिया जाता है कि आप यानी मजकूर तवक्ते कि हुक्म सानी इस अदालत से सादिर न हो जायदाद मुसर्रहा फर्द तालीक मुनसलिका को ब़जरिये बै या हिबा के या

और तौर पर मुस्तकिल करने से ममनूअ और बाज़ रक्खे गये हैं और तमाम अशखास जायदाद मज़कूर बज़रिए खरीद या हिबा के या और तौर पर लेने से मननूअ और बाज़ रक्खे गये हैं।

तारीख पेशी ३ सितम्बर सन् १६४६

"आज बतारीख २५ माह अगस्त सन् १६४६ ई० मेरे दस्तखत और मोहर अदालत से जारी किया गया।

फर्द तालिका

"एक किता बंगला नं० ११३ मसमूलै दूकानात व कोठरी जात व क्वाटर वाकै ऐलट रोड मीरपुर छावनी शहर कानपुर।

"पूर्व सड़क सरकारी पश्चिम गली सरकारी उत्तर।

"बंगला नं० ११४ दक्षिण व गली सरकारी।

"असिस्टेन्ट कलेक्टर दर्जा अव्वल"

यह 'आम फ़हम' भाषा कही जाती है! जनता ने केवल इतनी माँग की और कर रही है कि हम से ऐसी भाषा में बात करो, जिसे हम समझ सकें। पर, यह इतनी माँग अब तक स्वीकार नहीं हुई है और मौलाना हाली से ले कर काका कालेलकर तक, सब उस बेचारी जनता को ही उलटे कोसते आ रहे हैं!

मौलाना हाली की ज़बान (उर्दू) देखी; अब सर सैयद अहमद साहब की उर्दू का मुलाहजा फरमाइए :—

"अगरच इस ज़बान (उर्दू) में फ़ारसी और अरबी और संस्कृत के अल्फ़ाज़ मुस्तामल हैं और बाज़ बाज़ों ने कुछ तग़ैयुर व तबद्दल कर ली हैं; लेकिन इस ज़माने में और शहर के

लोगों ने यह तरीक़ा एख़्तयार किया है कि उर्दू ज़बान में या तो फ़ारसी की लुग़त बहुत मिला देते हैं और या फ़ारसी की तरक़ीब पर लिखने लगते हैं।"

सैय्यद ग़ुलाम मुहीउद्दीन क़ादरी :—

"मालूम होता है कि अबुल कलाम अज़ाद की मख़सूस ज़ेहनियत ने सर सैय्यद की इसलाही कोशिशों के लिए रद्दो अमल का काम किया। उन का और उन के मुक़ल्लेदीन का ग़ालिबन् यह अक़ीदह है कि उर्दू ज़बान में मज़हबे इसलाम की जुमल; इस्तलाहात और उस के मुताल्लिक; अरबी व फ़ारसी लफ़्ज़ों को बिलकुल बेतकल्लुफ़ी से इस्तेमाल करते रहना चाहिए, ताकि मुसलमान उन से हर वक्त दो चार होते रहें और इस तरह उन के मज़हबी मोतक़दात मौक़ा ब मौक़ा ताज़ह हुआ करें।"

मौलाना अब्दुस्सलाम नदवी :—

"बिलख़सूस दकन की ज़बान दिल्ली और लखनऊ की ज़बान से बिलकुल मुख़्तलिफ़ और संस्कृत और भाका से मिली-जुली होती थी और क़दमाय के पहले दौर तक दिल्ली में भी बहुत कुछ उस ज़बान का असर क़ायम रहा। इस बिना पर उर्दू क़दमा के दूसरे दौर में मोसल्लेहीने उर्दू और मोजद्दाने फ़न ने शाइरानः इस्लाह की तरफ़ तवज्जह की, तो उन के सामने पहले इस्लाहे ज़बान का मसलः आया और 'शाह हातिम' 'ख़्वाजः' 'मीर दर्द' और 'मीर' व 'मिरज़ा' ने ख़सूसियत के साथ क़दीम दकनी अल्फ़ाज़ के ख़स व ख़ाशाक से इस (उर्दू) ज़बान को पाक व

साफ़ किया। लेकिन इस के बाद भी एक मुद्दत तक अमलन् अल्फ़ाज़ उर्दू ज़बान का जुज़ व लायन फ़क रहे। और ख़ुद 'मीर' व 'मिरज़ा' ने बकसरत संस्कृत व मौका के अल्फ़ाज़ इस्तेमाल किये।"

आगे नदवी साहब नासिख़ के बारे में कहते हैं :—

"जहाँ तक मुमकिन हुआ, फ़ारसी और अरबी ज़बान के अल्फ़ाज़ इस्तैमाल किये और हिन्दी और भाका के अल्फ़ाज़ को छोड़ दिया। उस ने अहद कर लिया कि फ़ारसी और अरबी अल्फ़ाज़ जहाँ तक मुफ़ीद माने मिलें, हिन्दी अल्फाज़ न बांधो।"

जनाब अरशद साहब क्या कहते हैं :—

"ज़बाने उर्दू का था जो कुरआँ, तो 'मसहफी' उसके मसहफ़ी थे। ग़लीज़ लफ़्ज़ों से मंतरों से भरी है वह ही ज़बाने उर्दू !"

सौदा क्या अमृत-वर्षा कर रहे हैं :—

'गर हो कोशिशे शाहे ख़ुरासान तो 'सौदा'
सजदा न करूँ हिन्द की नापाक ज़मीं पर !'

इस उर्दू-शायरी ने ही पाकिस्तान को जन्म दिया है ! इसी ने हिन्द के प्रति नफ़रत पैदा की !

इस तरह उर्दू का नमूना मिला। अब 'हिन्दुस्तानी' भी देखिए और समझिए कि दोनो में (उर्दू और हिन्दुस्तानी में) कितना अन्तर है।

हिन्दुस्तानी का नमूना

राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' :—

"इस में शक नहीं कि अफ़गानी, ईरानी, तूरानी, मुसलमान भी जब हिन्दी बोलना चाहते थे, लाचार बहुत से फ़ारसी-अरबी अल्फ़ाज़ उस में बोला करते थे ; फ़र्क़ इतना अलबत्तः रहता था कि ये उन का तलफ़्फ़ुज़, जैसा अब भी ज़ाहिर दिखाई देता है, सहीह करते थे और यहाँ वाले ग़लत और कुछ का कुछ बना कर। इसी तरह अंगरेज लोग अंग्रेजी अल्फ़ाज़ का तलफ़्फ़ुज़ हमेशः सहीह ही करते हैं ; मगर यहाँ वाले ग़लत तलफ़्फ़ुज करके उन्हें कुछ का कुछ बना लेते हैं। बस, उर्दू यानी हाल की हिन्दी व हिन्दुस्तानी की जड़ हम ही लोग हैं। अगर ये सब परदेसी हमारे इस ज़माने की बोली की जड़ होते, तो उस में हम को फ़ारसी, अरबी, अंगरेजी के लफ़्ज़ों के बदले अपने देसी अल्फ़ाज़ ग़लत और कुछ के कुछ, जैसा उन्हें वे परदेसी तलफ़्फ़ुज़ करते हैं, मिलते। गर्ज़ मौलवी और पण्डित दोनो की यह बड़ी भूल है कि एक तो सिवाय फ़ेल और हरफ़ों के बाक़ी सब अल्फ़ाज़ सहीह फ़ारसी-अरबी के काम में लाना चाहते हैं और दूसरे सहीह पाणिनि की टकसाल के खुरखुरे संस्कृत।

"गोया यह हज़ारों तबद्दुल व तग़ैयुर अपनी ज़बान में करते चले आये हैं, वह उन के रत्ती भर भी लिहाज़ के लायक़ नहीं ; बल्कि इस तबयी और लाबदी क़ानून और क़ाअदे की उन के आगे कुछ गिनती ही नहीं।"

"जब यह बात पोख्तः ठहरी कि हमारी ज़बान में संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के, चाहे सहीह, चाहे ग़लत, बहुत से लफ़्ज़ मिले हैं और जब उन से छुटकारा भी मुमकिन नहीं है ; बल्कि वह हमारी ज़बान के एक जुज़ व आज़म बन गये हैं, तो जो कुछ थोड़ा-सा संस्कृत और अरबी का, जो फ़ारसी, तुर्की, अंग्रेजी वग़ैरह के मुक़ाबले में निहाय क़दीम असली और ख़ालिस ज़बान गिनी जाती हैं, लफ़्ज़ों की तरकीब का क़ाअदः, जहाँ तक हम को बोलचाल में काम पड़ता है, लिखना ज़रूरी हुआ। ज़्यादह उन दोनों ज़बानों की सफ़बनहो पढ़ने से मालूम हो सके गा।"

जनाब ज़ाक़िर हुसेन साहब क्या फ़रमा रहे हैं :—

"मैं आपको सच बताऊँ कि ज़बान को शुद्ध बनाने की इस कोशिश ने ही हिन्दी-उर्दू का झगड़ा छेड़ा है। नहीं तो पहले लोग उर्दू-हिन्दी का फ़र्क़ भी न जानते थे। उर्दू के अच्छे-अच्छे लिखने वालों ने अपनी ज़बान को हिन्दी बताया है। वह तो जब से इस मिली-जुली ज़बान में से अरबी-फ़ारसी के लफ़्ज़ों को निकाल-निकाल कर संस्कृत लफ़्ज़ लिखे जाने लगे, तो दो अलग-अलग ज़बानें बनने लगीं। हिन्दी वाले शुद्ध हिन्दी लिखने लगे, उर्दू वाले अरबी-फ़ारसी के बेजोड़ लफ़्ज़ भी ज़बान में लाने लगे। मगर उर्दू वाले पूरा-पूरा जवाब देते, तो कैसे देते? वह दो दिन की लड़ाई में अपना सदियों का काम कैसे मिटा दें ? उन्होंने अपनी ज़बान के लिए हिन्दुस्तानी ढाँचा अपनाया है, हिन्दुस्तानी ग्रामर पर चलते

हैं, लफ़्ज़ों का देश और नस्ल और मज़हब देखकर उनसे घिनियाना उन्हें नहीं आता।"

यानी वह सब दोष तो हिन्दी वालों पर ही है! खैर उर्दू और हिन्दुस्तानी में अन्तर आप ने देख लिया न? एक जगह 'ग्रामर' भी फ़ारसी-अरबी का चलता है और दूसरी जगह 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' पर चला जाता है! यानी उर्दू में 'अल्फ़ाज़' इस्तैमाल होता है, और हिन्दुस्तानी में 'लफ़्ज़ों' का इस्तेमाल होता है। 'शब्द' कहीं नहीं! व्याकरण हिन्दी में चलता है, हिन्दुस्तानी में 'ग्रामर' चलता है। यही सब भेद की बातें हैं।

मुझे विश्वास है, आप सब समझ गये होंगे। परन्तु यदि आप के सामने मैं मौलाना आज़ाद की हिन्दुस्तानी ला कर रखता, तो निश्चय ही आप ख़ाक न समझ पाते! इसीलिए मैंने वह 'गुलाबी उर्दू' दी है, जिसे काका कालेलकर 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं और हिन्दुस्तानी भी ऐसी दी है, जिसे वे 'सरल हिन्दी' कहते हैं।

हिन्दुस्तानी रीडरें

सन् १६३७ में जब प्रथम बार प्रान्तों में कांग्रेसी शासन आया, तो हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी चली और हिन्दीभाषी प्रान्तों में भी प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम हिन्दुस्तानी बनी।

युक्तप्रान्त में शिक्षा-सचिव तो उस समय भी श्री सम्पूर्णानन्द जी ही थे और हिन्दी के समर्थक भी अनन्य थे, पर 'कांग्रेस हाई-कमांड' की आज्ञा के सामने उनकी क्या चलती? इस प्रान्त में भी हिन्दुस्तानी रीडरें चलीं, जो सन् १६४७ तक बराबर चलती रहीं; इन रीडरों की भाषा का नमूना लीजिए :—

४—गांव के मज़े

(१)

ख़त

मेरे प्यारे दोस्त सोहन लाल जी,

बन्दगी।

मैंने तुम्हें कई ख़त लिखे। तुम ने एक का भी जवाब न दिया। इस ख़त को देखते ही बड़े दिन की छुट्टियों में यहां चले आओ। खूब बहारें आयेंगी। हम तुम मिलकर सैर करने चलेंगे। साथ खाना खायेंगे।

तुम्हारा दोस्त—
मोहन सिंह

सोहनलाल ने यह जवाब दिया :—

मेरे प्यारे दोस्त मोहन सिंह,

बन्दगी।

मैं अच्छी तरह हूं। तुम्हारा ख़त आया। पढ़कर बड़ी ख़ुशी हुई। इम्तहान की वजह से मैं तुम्हारे ख़तों का जवाब

न लिख सका। माफ़ करना। मैं १३ तारीख़ को अपना बिस्तर और किताबें बांधकर बहली में तुम्हारे घर शाम के छै बजे तक पहुंच जाऊंगा।

तुम्हारा दोस्त—

सोहनलाल

यह हिन्दुस्तानी रीडर (चौथा भाग) छह वर्ष से दस वर्ष तक के बालकों के लिए चलती थी। प्रारम्भ में एक बहुत बड़ी सबक़ों की 'फहरिस्त' दी है इस में 'तस्वीरों की फ़हरिस्त' भी है। २७६ 'सफहों की इस किताब' में ६३ 'सबक़' है, और 'हर एक सबक़' के अन्त में 'मश्क़' दिये हुए हैं। ६३ पाठों में कहीं एक बार भी 'अभ्यास' नहीं है। 'मश्कों' के नमूने देखिए :—

"नीचे के जुमलों को तरतीब देकर एक पैराग्राफ़ बनाओ—"

"खाली जगहों को भरो। देखो, इन लफ़्ज़ों में से कौन सा किस जगह बैठता है —"

"नीचे कुछ लफ़्ज़ और उनके मानी मिला-जुलाकर लिखे हैं। लफ़्ज़ और मानी एक जगह अपनी कापी पर लिखो :—"

लगभग पौने तीन सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में कहीं भी 'शब्द' 'वाक्य' 'पाठ' 'अभ्यास' 'व्याकरण' आदि शब्दों में से

कोई एक बार भी नहीं आ पाया है। यह तो उस प्रान्त की रीडर है, जहां श्री सम्पूर्णानन्द जी शिक्षा-मंत्री थे। जहां डा० सैय्यद महमूद साहब शिक्षा-मंत्री थे, उस बिहार में तो और भी अधिक प्रगति हुई! यही नहीं, बम्बई तथा मद्रास जैसे अहिन्दीभाषी प्रान्तों में भी ऐसी ही रीडरें चलायी गयीं और 'हिन्दुस्तानी' अनिवार्य कर के राष्ट्रभाषा की ओर से अरुचि पैदा की गयी! यह तो हिन्दी की अपनी शक्ति है कि अबतक राष्ट्र-भाषा-प्रेम सर्वत्र छलक रहा है।

परिशिष्ट-२

'सम्मेलन' के धिवेशन और सभापति

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का राष्ट्रभाषा से वही सम्बन्ध है, जो कांग्रेस का भारतीय स्वराज्य से। इस लिए, राष्ट्रभाषा के इतिहास में 'सम्मेलन' का क्या स्थान है, स्पष्ट है। नीचे हम 'सम्मेलन' के विविध अधिवेशनों की पूरी सूची दे रहे हैं, जिस में (अधिवेशन का) संवत्, स्थान तथा अध्यक्ष का भी उल्लेख है। इस सूची से 'सम्मेलन' तथा राष्ट्रभाषा की प्रगति का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जायगा और यह भी विदित होगा कि किस समय किस प्रान्त में राष्ट्रभाषा की क्या प्रगति हुई। 'सम्मेलन' अपने कामों में सदा विक्रमीय संवत् तथा महीनों के राष्ट्रीय (चैत्र, वैशाख आदि) नामों का प्रयोग करता है। इस लिए अधिवेशन-वर्ष विक्रमीय संवत् के अनुसार दिये हैं। पहला अधिवेशन १९१० (ईसवी सन्) में पड़ता है। इसी के अनुसार सन् निकाल लें। एक दिन आये गा, जब भारतीय सरकार अपने यहाँ सन् की जगह संवत् तथा महीनों के अपने देशी नाम चलायेगी। तब संवत्-गणना में झंझट न पड़ेगी। अभी तो स्थिति यह है कि मेरे जैसे लोग भी अंग्रेजी तारीख़ और सन् लिखते हैं! प्रवाह ही ऐसा है कि लिखना पड़ता है! ख़ैर, अब सूची लीजिए :—

संख्या स्थान	सभापति	संवत्
१—काशी	महामना पं० मदनमोहन मालवीय	१९६७
२—प्रयाग	पं० गोविन्दनारायण मिश्र	१९६८
३—कलकत्ता	उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'	१९६९
४—भागलपुर	महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द)	१९७०
५—लखनऊ	पं० श्रीधर पाठक	१९७१
६—प्रयाग	रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०	१९७२
७—जबलपुर	महामहोपाध्याय पांडेय रामावतार शर्मा साहित्याचार्य	१९७३
८—इन्दौर	कर्मवीर मोहनदास कर्मचन्द गांधी	१९७४
९—बम्बई	महमना पं० मदनमोहन मालवीय	१०७५
१०—पटना	रायबहादुर पं० विष्णुदत्त शुक्ल	१९७६
११—कलकत्ता	श्री डा० भगवानदास एम० ए० डी० लिट्०	१९७७
१२—लाहौर	पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी एम० आर० ए० एस०	१९७८
१३—कानपुर	बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन एम० ए० एल-एल० बी०	१९७९
१४—दिल्ली	पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	१९८०
१५—देहरादून	पं० माधवराव सप्रे	१९८१
१६—वृन्दावन	पं० अमृतलाल चक्रवर्त्ती	१९८२

संख्या स्थान	सभापति	संवत
१७—भरतपुर	महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० गौरी-शङ्कर हीराचन्द ओझा	१९८३
१८—मुजफ्फरपुर	पं० पद्मसिंह शर्मा	१९८५
१९—गोरखपुर	श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी	१९८६
२०—कलकत्ता	श्री बाबू जगन्नाथ दास'रत्नाकर' बी० ए०	१९८७
२१—झांसी	श्री किशोरीलाल गोस्वामी	१९८८
२२—ग्वालियर	रावराजा पं० श्यामबिहारी मिश्र एम० ए०	१९८९
२३—दिल्ली	महाराज सर सयाजीराव गायकवाड़, बड़ौदा	१९९०
२४—इन्दौर	महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी	१९९२
२५—नागपुर	डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद	१९९३
२६—मद्रास	सेठ जमनालाल बजाज	१९९४
२७—शिमला	पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर	१९९५
२८—काशी	पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी	१९९६
२९—पूना	श्री सम्पूर्णानन्द	१९९७
३०—अबोहर	डा० अमरनाथ झा	१९९८
३१—हरिद्वार	पं० माखनलाल चतुर्वेदी	२०००
३२—जयपुर	गोस्वामी गणेशदत्त	२००१
३३—उदयपुर	श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी	२००२
३४—करांची	श्री वियोगी हरि	२००३

संख्या स्थान	सभापति	संवत्
३५—बम्बई	श्री राहुल सांकृत्यायन	२००४
३६—मेरठ	सेठ गोविन्द दास (वर्तमान)	२००५

सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री

१—श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन	संवत् १९६७—८७
२—प्रो० ब्रजलाल	" १९७७—८०
३—पं० रामजीलाल शर्मा	" १९८०—८५
४—पं० कृष्णकान्त मालवीय	" १९८५—८८
५—पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल	" १९९०—९२
६—सरदार नर्मदाप्रसाद सिंह	" १९९२—९३
७—डा० बाबूराम सक्सेना	" १९९३—९७
८—डा० रामप्रसाद त्रिपाठी	" ९८—२०००
९—श्री मौलिचन्द्र शर्मा	२००१—२००४
१०—पं० उदयनारायण तिवारी	२००५
११—पं० बलभद्र प्रसाद मिश्र	वर्तमान

परिशिष्ट—३

महात्मा जी का टण्डन जी से पत्र-व्यवहार

राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर मतभेद

[हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के मन्त्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर महात्मा गांधी और श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के बीच हुए निम्न पत्र-व्यवहार को प्रकाशित कराया है ।]

महाबलेश्वर

२८-५-४५

भाई टण्डन जी,

मेरे पास उर्दू खत आते हैं, हिन्दी आते हैं और गुजराती । सब पूछते हैं, मैं कैसे हिन्दी साहित्य-सम्मेलन में रह सकता हूं और हिन्दुस्तानी सभा में भी ? वे कहते हैं, सम्मेलन की दृष्टि से हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है जिसमें नागरी लिपि ही को राष्ट्रीय स्थान दिया जाता है, जब मेरी दृष्टि में नागरी और उर्दू लिपि को स्थान दिया जाता है, और जो भाषा न फारसीमयी है न संस्कृतमयी है । जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूं तब मुझे सम्मेलन में से हट जाना चाहिये । ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है । इस हालत में क्या सम्मेलन से हटना मेरा फर्ज नहीं होता है ? ऐसा करने से लोगों को दुविधा न रहेगी और मुझे पता चलेगा कि मैं कहाँ हूं ।

कृपया शीघ्र उत्तर दें। मौन के कारण मैंने ही लिखा है लेकिन मेरे अक्षर पढ़ने में सब को मुसीबत होती है इसलिए इसे लिखवा कर भेजता हूं।

आप अच्छे होंगे। आपका

—मो० क० गांधी

१० क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद
८-६-४५

पूज्य बापू जी, प्रणाम।

आपका २५ मई का पत्र मुझे मिला। हिन्दी–साहित्य–सम्मेलन और हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा के कामों में कोई मौलिक विरोध मेरे विचार में नहीं है। आपको स्वयं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सदस्य रहते हुए लगभग २७ वर्ष हो गये। इस बीच आपने हिन्दी-प्रचार का काम राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया। वह सब काम ग़लत था, ऐसा तो आप नहीं मानते होंगे। राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी का प्रचार वांछनीय है यह तो आपका सिद्धान्त है ही। आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू शिक्षग का भी प्रचार होना चाहिये। यह पहले काम से भिन्न एक नया काम है जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है।

सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानता है। उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानता है जो विशिष्टजनों में प्रचलित है। स्वयं वह* हिन्दी की साधारण शैली का काम करता है, उर्दू

* वह=सम्मेलन।

शैली का नहीं। आप हिन्दी के साथ उर्दू को भी चलाते हैं। सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नहीं करता। किन्तु राष्ट्रीय कामों में अंग्रेजी को हटाने में वह उसकी सहायता का स्वागत करता है। भेद केवल इतना है कि आप दोनों चलाना चाहते हैं। सम्मेलन आरम्भ से केवल हिन्दी चलाता आया है। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सदस्यों को हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के सदस्य होने में रोक नहीं है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से निर्वाचित प्रतिनिधि हिन्दुस्तानी ऐकेडमी के सदस्य हैं और हिन्दुस्तानी ऐकेडमी हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियां और लिपियां चलाती है। इस दृष्टि से मेरा निवेदन है कि मुझे इस बात का कोई अवसर नहीं लगता कि आप सम्मेलन छोड़ें।

एक बात इस सम्बन्ध में और भी है। यदि आप हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अब तक सदस्य न होते तो संभवतः आपके लिये यह ठीक होता कि आप हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का काम करते हुए हिन्दी साहित्य-सम्मेलन में आने की आवश्यकता न देखते। परन्तु जब आप इतने समय से सम्मेलन में हैं तब उसका छोड़ना उसी दशा में उचित हो सकता है जब निश्चित रीति से उसका काम आपके नए काम के प्रतिकूल हो। यदि आपने अपने पहले काम को रखते हुए उसमें एक शाखा बढ़ायी है तो विरोध की कोई बात नहीं है।

मुझे जो बात उचित लगी ऊपर निवेदन किया। किन्तु यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आपकी आत्मा यही कहती है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊँ तो आपके अलग होने

की बात पर बहुत खेद होते भी नतमस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूँगा।

हाल में हिन्दी और उर्दू के विषय में एक वक्तव्य मैंने दिया था, उसकी एक प्रतिलिपि सेवा में भेजता हूं। निवेदन है कि इसे पढ़ लीजिएगा।

—विनीत,

—पुरुषोत्तमदास टण्डन

पुन :—इस समय न केवल आप किन्तु हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा के मंत्री श्रीमन्नारायण जी तथा कई अन्य सदस्य सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा समिति के सदस्य हैं। एक स्पष्ट लाभ इससे यह है कि राष्ट्र - भाषा - समिति और हिन्दुस्तानी - प्रचार - सभा के कामों में विरोध न हो सकेगा। कुछ मतभेद होते हुए भी साथ काम करना हमारे नियंत्रण का अंश होना उचित है।

—पु० दा० टण्डन

पञ्चगनी १३-६-४५

भाई पुरुषोत्तमदास टण्डन जी,

आपका पत्र कल मिला। आप जो लिखते हैं, उसे मैं बराबर समझा हूं तो नतीजा यह होना चाहिए कि आप और सब हिन्दी प्रेमी मेरे नए दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें। ऐसा होता नहीं है। और गुजरात में लोगों के मन में दुविधा पैदा हो गयी है। और मुझसे पूछ रहे हैं कि क्या करना? मेरे

ही भतीजे का लड़का और ऐसे दूसरे, हिन्दी का काम कर रहे हैं और हिन्दुस्तानी का भी। इससे मुसीबत पैदा होती है। पेरीन बहन को आप जानते हैं। वह दोनों काम करना चाहती हैं। लेकिन अब मौका आ गया है कि एक या दूसरे को छोड़ें। आप कहते हैं वह सही है तो ऐसा मौका आना ही नहीं चाहिए। मेरी दृष्टि से एक ही आदमी हिन्दुस्तानी - प्रचार - सभा और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का मंत्री या प्रमुख बन सकता है। बहुत काम होने के कारण न हो सके तो वह दूसरी बात है। और यह मैं कहता हूं वही अर्थ आपके पत्र का है, और होना चाहिए। तब तो कोई मतभेद का कारण ही नहीं रहता और मुझको बड़ा आनन्द होगा। आपका जो वक्तव्य आपने भेजा है मैं पढ़ गया हूं। मेरी दृष्टि से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा बिलकुल आप ही का काम कर रही है, इसलिए वह आपके धन्यवाद की पात्र है। और कम से कम उसमें आपको सदस्य होना चाहिए। मैंने तो आपसे विनय भी किया कि आप उसके सदस्य बनें लेकिन आपने इनकार किया है, ऐसा कहकर कि जब तक डाक्टर अब्दुल हक न बनें, तब तक आप भी बाहर रहेंगे। अब मेरी दरख्वास्त यह है कि अगर मैं ठीक लिखता हूं और हम दोनों एक ही विचार के हैं तो हि० सा० स० की ओर से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए। अगर इसकी आवश्यकता नहीं है तो मेरा कुछ आग्रह नहीं है। कम से कम हम दोनों में से तो इस बारे में मतभेद नहीं है, इतना स्पष्ट होना चाहिए। हि० सा० स० में से निकलना मेरे लिए कोई मजाक की बात नहीं है। लेकिन, जैसे मैं कांग्रेस में से निकला

तो कांग्रेस की ज्यादा सेवा करने के लिए, उसी तरह अगर मैं सम्मेलन में से निकला तो भी सम्मेलन की अर्थात् हिन्दी की ज्यादा सेवा करने के लिए निकलूँगा।

जिसको आप मेरे नए विचार कहते हैं वे सचमुच तो नए नहीं हैं। लेकिन जब मैं सम्मेलन का प्रथम सभापति हुआ तब जो कहा था और दोबारा सभापति हुआ तब अधिक स्पष्ट किया, उसी विचार-प्रवाह का मैं अभी स्पष्ट रूप से अमल कर रहा हूं; ऐसे कहा जाय। आपका उत्तर आने पर मैं आखिर का निर्णय कर लूँगा।

आपका

मो० क० गांधी

१० क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद

११-७-४५

पूज्य बापू जी,

आपका पञ्चगनी से लिखा हुआ १३ जून का पत्र मिला था। उसके तुरन्त बाद ही राजनीतिक परिवर्तनों और आपके पञ्चगनी से हटने की बात सामने आयी। मेरे मन में यह आया था कि राजनीतिक कामों की भीड़ से थोड़ी सुविधा जब आपके पास देखूँ तब मैं लिखूँ। आज ही सवेरे मेरे मन में आया कि इस समय आपको कुछ सुविधा होगी। उसके बाद श्री प्यारेलालजी का ९ तारीख का पत्र आज ही मिला, जिसमें उन्होंने सूचना दी है कि आप मेरे उत्तर की राह देख रहे हैं।

आपने अपने २८ मई के पत्र में मुझ से पूछा था कि—मैं कैसे हि० सा० स० में रह सकता हूं और हि० प्र० सभा में भी ? इस प्रश्न का उत्तर मैंने अपने ८ जून के पत्र में आपको दिया। मेरी बुद्धि में जो काम हि० सा० स० कर रहा है, उससे आपके अगले काम का कोई विरोध नहीं होता। इस १२ जून के पत्र में आपने एक दूसरे विषय की चर्चा की है। आपने लिखा है कि 'आप और सब हिन्दी-प्रेमी मेरे नए दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें।' मैंने मौखिक रीति से आपको स्पष्ट करने का यत्न किया था, और जिस वक्तव्य की नक़ल मैंने आपको भेजी थी उसमें भी मैंने स्पष्ट किया है, कि मैं आपके इस विचार से कि प्रत्येक देशवासी हिन्दी और उर्दू दोनों सीखें, सहमत नहीं हो पाता। मेरी बुद्धि स्वीकार नहीं करती कि आपका यह नया कार्यक्रम व्यावहारिक है। मुझे तो दिखाई देता है कि बंगाली, गुजराती, मराठी, उड़िया आदि बोलने वाले इस कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करेंगे।

हिन्दी और उर्दू का समन्वय हो, इस सिद्धान्त में पूरी तरह से मैं आपके साथ हूं। किन्तु यह समन्वय, जैसा मैंने आपसे बम्बई में निवेदन किया था और जैसा मैंने वक्तव्य में भी लिखा है, तब ही सम्भव है जब हिन्दी और उर्दू के लेखक और उनकी संस्थाएँ इस प्रश्न में श्रद्धा दिखाएँ। मैंने इस प्रश्न को प्रयाग में प्रान्तीय हि० सा० स० के सामने थोड़े दिन हुए रक्खा था। मेरे अनुरोध से वहाँ यह निश्चय हुआ है कि इस प्रकार के समन्वय का हिन्दीवाले स्वागत करेंगे। आवश्यकता इस बात

की है कि उर्दू की भी संस्थाएं इस समन्वय के सिद्धान्त को स्वीकार करें। उर्दू के लेखक न चाहें और आप और हम समन्वय कर लें, यह असम्भव है। इस काम के करने का क्रम यही हो सकता है कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी विद्यापीठ, अंजुमने तरक्की ये उर्दू, जामिया मिलिया तथा इस प्रकार की दो-एक अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों से निजी बातचीत की जाय और यदि उनके सञ्चालकों का रुझान समन्वय की ओर हो तो उनके प्रतिनिधियों की एक बैठक की जाय और इस प्रश्न के पहलुओं पर विचार हो। भाषा और लिपि दोनों ही के समन्वय का प्रश्न है, क्योंकि अनुभव से दिखाई पड़ रहा है कि साधारण कामों में तो हम एक भाषा चलाकर दो लिपि में उसे लिख लें, किन्तु गहरे और साहित्यिक कामों में एक भाषा और दो लिपि का सिद्धान्त चलेगा नहीं। भाषा का स्थायी समन्वय तभी होगा जब हम देश के लिए एक साधारण लिपि का विकास कर सकें। काम बहुत बड़ा अवश्य है, किन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से स्पष्ट ही बहुत महत्व का है।

मेरे सामने यह प्रश्न १९२० से रहा है किन्तु यह देखकर कि उसके उठाने के लिए जो राजनीतिक वायुमण्डल होना चाहिए वह नहीं है, मैं उसमें नहीं पड़ा और केवल राष्ट्र-भाषा के हिन्दी रूप की ओर मैंने ध्यान दिया—यह समझ कर कि इसके द्वारा प्रान्तीय भाषाओं को हम एक राष्ट्र-भाषा की ओर लगा सकेंगे। मैं स्वीकार करता हूँ कि पूर्ण काम तभी कहा जा सकता है कि जब हम उर्दू वालों को भी अपने साथ ले सकें। किन्तु उस काम

को व्यावहारिक न देख कर देश की अन्य भाषा-भाषी बड़ी जनता को हिन्दी के पक्ष में करना एक बहुत बड़ा काम राष्ट्रीयता के उत्थान में कर लेना है। अस्तु, इसी दृष्टि से मैंने काम किया है। उर्दू के विरोध का तो मेरे सामने प्रश्न हो ही नहीं सकता। मैं तो उर्दू वालों को भी उसी भाषा की ओर खींचना चाहूंगा जिसे मैं राष्ट्र-भाषा कहूं। और उस खींचने की प्रतिक्रिया में स्वभावतः उर्दू वालों का मत लेकर भाषा के स्वरूप परिवर्तन में भी बहुत दूर तक कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर जाने को तैयार हूं। किन्तु जब तक वह काम नहीं होता तब तक इसीसे सन्तोष करता हूं कि हिन्दी द्वारा राष्ट्र के बहुत बड़े अंशों में एकता स्थापित हो।

आपने जिस प्रकार से काम उठाया है वह ऊपर मेरे निवेदन किए हुए क्रमसे बिलकुल अलग है। मैं उसका विरोध नहीं करता; किन्तु उसे अपना काम नहीं बना सकता।

आपने गुजरात के लोगों के मन में दुविधा पैदा होने की बात लिखी है। यदि ऐसा है तो आप कृपया विचार करें कि इसका कारण क्या है। मुझे तो यह दिखाई देता है कि गुजरात के लोगों (तथा अन्य प्रान्तों के लोगों) के हृदय में दोनों लिपियों के सीखने का सिद्धान्त घुस नहीं रहा है किन्तु आपका व्यक्तित्व इस प्रकार का है कि जब आप कोई बात कहते हैं तो स्वभावतः इच्छा होती है कि उसकी पूर्ति की जाय। मेरी भी तो ऐसी ही इच्छा होती है; किन्तु बुद्धि आपके बताए मार्ग का निरीक्षण करती है और उसे स्वीकार नहीं करती।

आपने पेरीन बहन के बारे में लिखा है। यह सच है कि वह दोनों काम करना चाहती है। उसमें तो कोई बाधा नहीं है। राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति और हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा के कार्यकर्ताओं में विरोध न हो और वे एक-दूसरे के कामों को उदारता से देखें—इसमें यह बात सहायक होगी कि हि० प्र० सभा और रा० प्र० समिति का काम अलग-अलग संस्थाओं द्वारा हो, एक ही संस्था द्वारा न चले। एक के सदस्य दूसरे के सदस्य हों किन्तु एक ही पदाधिकारी दोनों संस्थाओं के होने से व्यावहारिक कठिनाइयाँ और बुद्धिभेद होगा। इसलिए पदाधिकारी अलग-अलग हों। आपको याद दिलाता हूं कि इस सिद्धान्त पर आपसे सन् ४२ में बातें हुई थीं। जब हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा बनने लगी उसी समय मैंने निवेदन किया था कि रा० प्र० समिति का मन्त्री और हि० प्र० सभा का मन्त्री एक होना उचित नहीं। आपने इसे स्वीकार भी किया था। और जब आपने श्रीमन्नारायण जी के लिए हि० प्र० सभा का मन्त्री बनना आवश्यक बताया तब ही आपकी अनुमति से यह निश्चय हुआ था कि कोई दूसरा व्यक्ति रा० प्र० समिति के मन्त्री पद के लिए भेजा जाय। और उसके कुछ दिन बाद आनन्द कौसल्यायनजी भेजे गए थे। यही सिद्धान्त पेरीन बहन के सम्बन्ध में लागू है। जिस प्रकार श्रीमन्नारायण जी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मन्त्री होते हुए रा० प्र० समिति के स्तम्भ रहे हैं, उसी प्रकार पेरीन बहन दोनों संस्थाओं में से एक की मन्त्रिणी हों और दूसरे में भी खुलकर काम करें। इसमें तो कोई कठिनता की बात नहीं है। यही

सिद्धान्त सब प्रान्तों के सम्बन्ध में लगेगा।' सम्भवतः श्रीमन्नारायण जी उन सब स्थानों में जहां रा० प्र० समिति का काम हो रहा है, हि० प्र० सभा की शाखाएँ खोलने का प्रयत्न करेंगे। उन्होंने रा० प्र० समिति के कुछ पदाधिकारियों से हि० प्र० सभा का काम करने के लिये पत्र-व्यवहार भी किया है। आपस में विरोध न हो इसके लिए यह मार्ग उचित है कि दोनों संस्थाओं की शाखाएँ अलग-अलग हों। और उनके मुख्य पदाधिकारी अलग हों। साथ ही मेल और समझौता रखने के लिए दोनों की सदस्यता सब के लिए खुली रहे। यह तो मेरी बुद्धि में ऐसा क्रम है जिसका स्वागत होना चाहिए।

आपने मेरे वक्तव्य को पढ़ने की कृपा की और उससे आपने यह परिणाम निकाला कि हि० प्र० सभा बिलकुल मेरा ही काम करेगी और मुझे उसका सदस्य होना चाहिए। आपने यह भी लिखा कि आपने मुझसे सदस्य होने के लिए कहा था किन्तु मैंने यह कह कर इन्कार किया कि जब तक अब्दुल हक़ साहब उसके सदस्य न बनेंगे मैं भी बाहर रहूंगा। यह सच है कि मैं हि० प्र० सभा का सदस्य नहीं बना हूं। इस सम्बन्ध में सन् ४२ में काका कालेलकर जी ने मुझसे कहा था और हाल में डा० ताराचन्द ने। आपने बम्बई में पञ्चगनी जाने से पहले एक लिफ़ाफे में दो पत्र मुझे भेजे थे। उनमें से एक में आपने इस विषय में लिखा था। किन्तु मुझे बिलकुल स्मरण नहीं है कि आपने मौखिक रीति से मुझ से हि० प्र० सभा के सदस्य बनने के लिये कहा हो और मैंने अब्दुल हक़ साहब का हवाला देकर इन्कार किया हो। मुझे

लगता है कि आपने एक सुनी हुई बात को अपने सामने हुई बात में स्मृतिभ्रम से परिणत कर दिया है। सन् ४२ में काका जी ने जब चर्चा की, उस समय मैंने उनसे मौलवी अब्दुल हक तथा उर्दू वालों को लाने की बात अवश्य कही थी। तात्पर्य वही था जो आज भी है अर्थात् यह कि जब तक हिन्दी और उर्दू लेखक हिन्दी उर्दू के समन्वय में शरीक नहीं होते तब तक यह यत्न सफल नहीं हो सकता। हि० प्र० सभा यदि इस काम में कुछ भी सफलता प्राप्त करेगी तो वह अवश्य मेरी धन्यवाद की पात्री होगी। आज तो हि० प्र० सभा में शामिल होने में मेरी कठिनता इसलिये बढ़ गयी है कि वह हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाने के अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों और लिपियों को अलग-अलग प्रत्येक देशवासी को सिखाने की बात करती है।

यह तो मैंने आपके पत्र की बातों का उत्तर दिया। मेरा निवेदन है कि इन बातों से यह परिणाम नहीं निकलता कि आप अथवा हि० प्र० सभा के अन्य सदस्य सम्मेलन से अलग हों। सम्मेलन हृदय से आप सबों को अपने भीतर रखना चाहता है। आपके रहने से वह अपना गौरव समझता है। आप आज जो काम करना चाहते हैं वह सम्मेलन का अपना काम नहीं है। किन्तु सम्मेलन जितना करना है वह आपका काम है। आप उससे अलग जो करना चाहते हैं उसे सम्मेलन में रहते हुए भी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं।

सेवाग्राम,
२५-७-४५

भाई टण्डन जी,

आपका ता० ११-७-४५ का पत्र मिला। मैंने दो बार पढ़ा। बाद में श्री किशोरलाल भाई को दिया। वे स्वतन्त्र विचारक हैं आप जानते होंगे। उन्होंने लिखा है सो भी भेजता हूं। मैं तो इतना ही कहूंगा, जहाँ तक हो सका मैं आपके प्रेम के अधीन रहा हूं। अब समय आया है कि वही प्रेम मुझे आपसे वियोग करायेगा। मैं मेरी बात नहीं समझा सका हूं। यही पत्र आप सम्मेलन की स्थायी समिति के पास रखें। मेरा ख्याल है कि सम्मेलन ने मेरी हिन्दी की व्याख्या अपनायी नहीं है। अब तो मेरे विचार इसी दिशा में आगे बढ़े हैं। राष्ट्रभाषा की मेरी व्याख्या में हिन्दी और उर्दू लिपि और दोनों शैली का ज्ञान आता है। ऐसा होने से ही दोनों का समन्वय होने का है तो हो जायगा। मुझे डर है कि मेरी यह बात सम्मेलन को चुभेगी। इसलिये मेरा इस्तीफ़ा कबूल किया जाय। हिन्दुस्तानी प्रचार का कठिन काम करते हुए मैं हिन्दी की सेवा करूँगा और उर्दू की भी।

१० क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद

२-८-४५

पूज्य बापू जी,

आपका २५ जुलाई का पत्र मिला। मैं आपकी आज्ञा के अनुसार खेद के साथ आपका पत्र स्थायी समिति के सामने रख दूँगा। मुझे तो जो निवेदन करना था अपने पिछले दो पत्रों में कर चुका।

आपके पत्र के साथ भाई किशोरलाल मशरूवालाजी का पत्र मिला है। उनको मैं अलग उत्तर लिख रहा हूँ। वह इसके साथ है। कृपया उन्हें दे दीजियेगा।

—विनीत

पुरुषोत्तमदास टण्डन

परिशिष्ट—४

ग्रन्थ प्रणयन के बाद

राष्ट्रभाषा की प्रगति*

"निखिल भारत की राष्ट्रभाषा के स्थान पर हिन्दी प्रतिष्ठित हो गयी है। जो अपरिहार्य और अवश्यम्भावी था, उसे हमारे राष्ट्रपरिचालकों ने मान लिया है। जिस ओर प्रकृति की गति थी, वहाँ रुकावट की आकांक्षा और चेष्टा व्यर्थ हो गयी है। राष्ट्र के परिचालकों ने इस समय हिन्दी को जो मर्यादा दी है, वह उस के अपने अधिकार की स्वीकृति ही है। यह मर्यादा बहुत पहले हिन्दी को मिलनी चाहिए थी।"

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी एम० ए० डी० लिट०

गत १४ सितम्बर १९४९ के अपने अधिवेशन में जब भारतीय विधान-परिषद् ने देवनागरी अक्षरों में लिखी हुई हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया, तो राष्ट्रभाषा-प्रेमियों में सर्वत्र ही आनन्द की एक लहर दौड़ गयी। जिस भाषा को

---

* "राष्ट्रभाषा का इतिहास लिखा जाने के बाद राष्ट्रभाषा के इतिहास में कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं, जिन पर स्वयं ग्रन्थकार का लिखने का विचार था, परन्तु अस्वस्थता के कारण वे नहीं लिख सके ; अतः ग्रन्थ को अद्यावधि परिपूर्ण बनाने के लिए प्रकाशक के रूप में अपना कर्तव्य पालन करने के लिए ग्रन्थकार के सुपुत्र श्री मधुसूदन वाजपेयी से लिखवा कर ये पंक्तियाँ ग्रन्थ में जोड़ी जा रही हैं।" —प्रकाशक

सदियों पहले भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों के सन्त अपनी पावन वाणी द्वारा देशव्यापी बना चुके थे, उसे आज के प्रबुद्ध राष्ट्र ने राजनीतिक दृष्टिकोण से भी स्वीकार कर लिया है, यह अवश्य ही हर्ष की बात है। जो संस्कृत भाषा अनेक युगों तक भारतीय संस्कृति की वाहन और प्रतीक बन कर एशिया खण्ड में दूर दूर तक फैली, उसे ही राष्ट्रभाषा का पद देने के पक्ष में भी यद्यपि डा० कैलाशनाथ जी काटजू जैसे मनीषी हैं, और भूतपूर्व भारतीय गवर्नर जनरल श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने भी विगत १२ मार्च १९५० को दक्षिण भारतीय संस्कृत सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए यही कहा है कि "भविष्य में संस्कृत को वह महत्त्व मिलेगा, जो अब तक अंग्रेजी को मिलता रहा" तथापि युग की मांग के अनुसार यदि राष्ट्र ने संस्कृत की उत्तराधिकारिणी उस हिन्दी को बनाया है, जो संस्कृत की सम्पूर्ण सम्पन्नता को अपनी थाती समझती है, तो अवश्य ही यह बहुत उत्तम हुआ है।

स्वरूप-विषयक मतभेद

ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के विषय में अभी मतभेद बना ही हुआ है और हिन्दी-हिन्दुस्तानी की समस्या का अन्त नहीं हुआ है। विधान-परिषद् द्वारा हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत होने के कुछ समय बाद ही दिल्ली में हिन्दुस्तानी-प्रेमियों ने एक नयी संस्था "हिन्दी-परिषद्" को जन्म दिया है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जैसी अखिल भारतीय संस्था रहते हुए एक इस प्रकार की स्वतन्त्र हिन्दी-प्रचार-

संस्था बनाने की क्या आवश्यकता थी। इसी प्रश्न को ले कर हिन्दी-प्रेमियों ने उक्त संस्था की काफी आलोचना की है।

प्रश्न उठाया जा रहा है कि विधान में स्वीकृत राष्ट्रभाषा को "हिन्दी-हिन्दुस्तानी" कहा जाय, या "हिन्दुस्तानी - हिन्दी"। हिन्दुस्तानी-प्रेमी बन्धु उसे "हिन्दुस्तानी-हिन्दी" कहना चाहते हैं।

सरकारी नीति में परिवर्तन

विधान द्वारा हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हो जाने के बाद हिन्दी-प्रेमियों ने इस दिशा में सरकारी नीति के परिवर्तन की आशा की थी। वह आशा कहाँ तक पूरी हुई, इसका कुछ अनुमान श्री बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन' श्री वियोगी हरि, श्री रायकृष्णदास और श्री मौलिकचन्द्र शर्मा प्रभृति हिन्दी-साहित्यकारों द्वारा अखिल भारतीय रेडियो की परामर्शसमिति से किये गये सम्बन्ध-विच्छेद से होता है, जो उन्होंने उस की नीति का विरोध करते हुए गत नवम्बर १९४९ में किया था। हिन्दी के इन नेताओं का अनुगमन कर के हिन्दी के अन्य लेखकों, पत्रकारों और कवियों ने भी रेडियो का बहिष्कार कर दिया। इधर रेडियो की नीति में कुछ परिवर्तन हुआ है और हमें आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही यह बहिष्कार समाप्त हो जायगा।

विधान में एक धारा राज्यों में राष्ट्रभाषा के प्रचार के विषय में भी है। इस के अनुसार, हाल ही में शिक्षा-मन्त्री मौलाना आजाद ने संसद् में बताया है, शिक्षा-मन्त्रालय दो बोर्ड नियुक्त करने वाला है, एक तो विद्यालयों में सरल हिन्दी में पाठ्यपुस्तकें

जारी करने के विषय में परामर्श देगा और दूसरा हिन्दी में पारिभाषिक कोष तैयार करेगा। साथ ही एक राष्ट्रीय हिन्दी एकेडेमी की योजना भी तैयार की जा रही है। हिन्दी-शीघ्रलिपि के चार विद्यालय भी केन्द्रीय सरकार चला रही है।

गत २९ मार्च १९५० को सेठ गोविन्द-दास के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए भारतीय संसद् में शिक्षा-मंत्री मौलाना आजाद ने बताया कि दिल्ली में एक केन्द्रीय पुस्तकालय स्थापित करने के सम्बन्ध में सरकार ने एक योजना तैयार की है। वहाँ कोष, चित्र आदि जानकारी प्राप्त करने की वस्तुएँ रहेंगी तथा उसी में प्रकाशन-विभाग भी रहेगा, जहाँ से ऐसी चीजें प्रकाशित की जायेंगी, जिनके प्रकाशन का अधिकार दूसरों को नहीं रहेगा।

अहिन्दी-भाषाभाषी क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार करने के सम्बन्ध में भी सरकार ने एक योजना बनायी है, जिस पर अप्रैल में केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड में विचार किया जायगा।

हैदराबाद-सम्मेलन

विधान-परिषद् द्वारा हिन्दी राष्ट्रभाषा स्वीकृत हो जाने के प्राय: तीन महीने बाद अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का ३७ वाँ अधिवेशन हैदराबाद राज्य हिन्दी प्रचार सभा के निमंत्रण पर हैदराबाद नगर में सम्पन्न हुआ। अन्य सम्मेलनों की अपेक्षा इस सम्मेलन की विशेषता यह रही कि हिन्दी-भाषी प्रतिनिधियों के साथ अहिन्दीभाषी प्रतिनिधि भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रश्न पर तन्मयता से विचार करते दिखायी दिये।

भारत के भिन्न-भिन्न भागों से लगभग ढाई सौ प्रतिनिधि सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे, जिन में दो सौ केवल दक्षिण भारत के ही विभिन्न भागों से आये थे। हैदराबाद की "अजन्ता" पत्रिका ने लिखा था—"इन व्यक्तियों में कौतुकदर्शकों की अपेक्षा विद्वान् और मनीषी अधिक थे। इस अहिन्दी-प्रदेश में सम्मेलन का इतना गौरवशाली अधिवेशन और उस में उपस्थित होने वाली अगणित जनता इस सत्य को प्रमाणित करती थी कि सम्मेलन दक्षिणवासियों के हृदय में भी एक विशेष आदरणीय स्थान रखता है।"

हैदराबाद-अधिवेशन का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व था। विधान-परिषद् द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के पक्ष में निर्णय के पश्चात् कुछ निहितस्वार्थ लोगों ने इस प्रकार का प्रचार किया था कि हिन्दी को जिस रूप में राष्ट्रभाषा माना गया है, उस से दक्षिणवासी किसी न किसी रूप से असन्तुष्ट हैं और वे सम्मेलन की नीति के समर्थक नहीं हैं। वे इस प्रकार सम्मेलन को एकमात्र हिन्दीभाषियों की संस्था के रूप में चित्रित कर रहे थे। कोई आश्चर्य न था यदि उन का प्रचार सफल हो जाता, क्योंकि सम्मेलन के संचालन में हिन्दी-भाषियों का ही प्रमुख हाथ अब तक रहा है। परन्तु हैदराबाद में सम्मेलन के नेताओं का जो भव्य स्वागत हुआ, उसने इस प्रकार की निरर्थकता पूरी तरह सिद्ध कर दी।

अङ्क-विषयक निर्णय से असन्तोष

सम्मेलन-अध्यक्ष आचार्य श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने अपने

अध्यक्षीय भाषण में विधान-परिषद् के अंक-विषयक निर्णय पर खेद प्रकट किया। आप ने कहा "सामान्यतः अङ्क अक्षर का अङ्ग ही समझा जाता है। यही कारण है कि भाषा और लिपि का विवाद तो इस देश में इतना रहा, पर कभी अङ्क का विवाद न उठा। नागरी (लिपि) में अंगरेजी अङ्क का व्यवहार अंगरेजी सरकार के शासन में भी न हो सका। जहाँ-तहाँ कुछ छिटपुट प्रयत्न हो कर रह गया। हाँ, द्रविड़ देश इस की चाल में आ गया और वही आज दुर्दैववश कुल्हाड़ी का बेंट बना। उसी की ओर से इस तिकड़म का प्रस्ताव हुआ।"

जिन सार्वभौम किंवा अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय अङ्कों को विधान-परिषद् ने स्वीकार किया है; उन के लिए आपने कहा कि विश्व में इस तरह का कोई नाम ही नहीं है, फिर उसका विधान कैसा? "आप जाइए तो जापान और रूस में, पूछिए तो अमेरिका और इंगलैंड से और फिर कहिए तो सही, वहां इन का नाम क्या है? क्या वहाँ के लोग इन्हें अरबी अङ्क नहीं कहते? हाँ, अरबी क्षेत्र के प्राणी अवश्य ही इन्हें, नहीं नहीं, अपने अङ्कों को अरकाम 'हिन्दिया' कहते हैं और पुकार कर कहते हैं कि इन्हें लिया कहाँ से।"

इस प्रकार अपने ही अंकों का विदेशी संस्करण हम ने स्वीकार किया है, नहीं, हमारी विधान-परिषद् ने स्वीकार किया है।

अंकों का भविष्य

सम्मेलन-अध्यक्ष ने चेतावनी दी है कि "लक्षण ऐसा दिखायी

दे रहा है कि यदि इसी न्याय से काम लिया गया, तो अपने देश में अंग्रेजी-अंक के अतिरिक्त कोई दूसरा अंक नहीं रह जायगा और सभी देशभाषाओं के अंक विदा हो जाएंगे। निदान हमारा कहना है कि किसी भी दशा में इन अंकों को महत्त्व देना इस समय राष्ट्र-जीवन के लिए घातक है।"

भावी आशा

परन्तु सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए मध्यप्रदेश तथा बरार के प्रधान मन्त्री माननीय श्री रविशंकर जी शुक्ल ने इस विषय में आशामय भविष्य की ओर संकेत किया था। आप ने कहा कि देवनागरी अंकों के लिए अभी सब द्वार बन्द नहीं हुए हैं। "१५ वर्ष की अवधि के भीतर ही सम्भवतः, और नहीं तो उस के बाद भी, नागरी अंकों के पुनरुद्धार के लिए विधान में स्थान है। यह १५ वर्ष की अवधि तो सचमुच में हमारे लिए एक चुनौती और अवसर है। हमारा पुरुषार्थ तो इसी में होगा कि हमारे लिए जो कठिनाइयाँ हैं, उन्हें हम वरदान में परिणत कर दें। यह अवधि हिन्दी-सेवियों के लिए निरन्तर जागरूकता और कार्यपरता की होगी। पाँच ही वर्ष बाद एक कमीशन बैठेगा, जो इस बात का जाँच कर सुझाव रखेगा कि सरकारी कार्यों में हिन्दी के अधिकाधिक प्रवेश के लिए कौन से उपाय किये जायँ, अंग्रेजी का प्रभुत्व कैसे घटाया जाय, इत्यादि। हमारा काम है कि हम कमीशन को उस के उद्देश्यों में सफल होने में सहायता दें। समय आ गया कि हिन्दी माँ के

सारे लाल जुट जायँ और अप ने आराध्य को राष्ट्र-मन्दिर की प्रतिभा के योग्य बना दें। माँ भारती का भण्डार इस तरह लबालब भर दें कि वह सर्वोच्च शिक्षा, अनुसन्धान, ज्ञान-विज्ञान एवं सम्पूर्ण राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन की विविध और जटिलतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। हिन्दी के सभी लेखकों, कवियों, विचारकों, निरुक्तकारों (भाषाशास्त्रियों) वैय्याकरणों और संकलनकर्ताओं के लिए यह एक बड़ा आह्वान है। आशा है कि सम्मेलन हिन्दी की सारी बिखरी शक्तियों को बटोर कर उन्हें इस दिशा में अनुप्रेरित कर उन का सफल मार्ग-संचालन करेगा।"

राष्ट्रभाषा का दायित्व

जैसा कि हैदराबाद-सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए माननीय श्री रविशंकर शुक्ल ने कहा था, संविधान सभा द्वारा राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर पदारूढ़ कर दिए जाने के बाद हिन्दी अब केवल हिन्दी-भाषियों की ही भाषा नहीं, अब यह समूचे देश की सम्पत्ति बन चुकी है। "इसलिए आवश्यक हो गया है कि हिन्दी-भाषी एकत्रित हों और विचार करें कि हिन्दी के मस्तक पर राजमुकुट पहनाने का जो निश्चय किया गया है, उस का क्या अर्थ है, इस से कौन-कौन सा नया उत्तरदायित्व आ पड़ा है और उन का निर्वाह किस तरह हो। यही मैं समझता हूं, इस अधिवेशन के सम्मुख आज का मुख्य कार्य होगा।"

उपरोक्त उद्धरण में हिन्दी-भाषियों के उत्तरदायित्व पर जो

विशेष जोर दिया गया है, उस का स्पष्टीकरण बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के हाल ही में प्रकाशित उस लेख से होता है, जिस में उन्हों ने कहा है—"यह तो सच है कि अहिन्दीप्रान्त के लोग, जिन में बंगाल, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु आदि साहित्य-समृद्ध भाषाएँ चालू हैं, उन के लिए सिर्फ राजनैतिक ऐक्य में सहायता के सिवा, हिन्दी में कोई आकर्षण-है नहीं। हिन्दी अब तक संस्कृतिवाहिनी भाषा इन के लिए बन नहीं सकी। राजनीतिक आवश्यकता को छोड़ देने से बहुतेरे अहिन्दी-भाषियों के विचार में हिन्दी फिजूल है। हिन्दी-जिन की मातृभाषा है, या जिन्हों ने हिन्दी को अपनाया है, उन को इस बात पर गौर करना चाहिए। जिस से हमारी मानसिक और आत्मिक पुष्टि हो, ऐसे रससाहित्य-अर्थात् 'लिटरेचर आफ पावर' (Literature of Power) के पर्याप्त परिमाण में न रहने से हिन्दी लोकाकर्षक नहीं होगी। हम अहिन्दीप्रान्त के लोगों का सहज अधिकार तो इस विषय में है नहीं—हिन्दी हमारी पितृ-पुरुषागत रिक्थ या 'इनहेरिटेन्स' (Inheritence) तो नहीं है, अतएव हमारी अपनी मातृभाषा को छोड़ कर उस में रससाहित्य बनाने की शक्ति हमें मिलना साधारणतया कठिन होगा। पर हम मामूली तौर पर कुछ ज्ञान या विद्या यथाशक्ति हिन्दी के माध्यम से परोस सकते हैं—"लिटरेचर आफ इनफर्मेशन" (Literature of Information) के योग्य भाषा हिन्दी को बनाने के लिए कुछ जिम्मेदारी, कुछ अधिकार, कुछ शक्ति हम अहिन्दी बोलने वालों में अवश्य है; यदि न हो, तो इस के लिए

हमें योग्यता का अर्जन करना होगा। हमारे इस विषय पर दत्तचित्त होने से अखिल भारत का कल्याण होगा।"

वास्तव में, हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनते ही हिन्दी के साहित्यकारों का जो दायित्व बढ़ गया है, उस की कल्पना बहुत कम लोगों ने की थी। हमें भूलना न चाहिए कि हिन्दी अपनी सम्पन्नता के कारण नहीं, अपितु अपनी सरलता और व्यापकता के कारण ही राष्ट्रभाषा के रूप में वरण की गयी है। यहाँ हमें हैदराबाद-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् के स्वागताध्यक्ष-पद से दिये गये हैदराबाद के विद्वान नेता श्री विनायक राव जी विद्यालंकार के ये शब्द स्मरण हो आते हैं—"हिन्दी में अब ऐसा साहित्य निर्मित हो जिस में संयुक्तप्रान्त की वीरता, बिहार की सादगी, काश्मीर का सौन्दर्य, पंजाब का शौर्य, राजस्थान का त्याग, बंगाल की कला, मलय का मनोरम दृश्य, केरल का संगीत, महाराष्ट्र की बुद्धिमत्ता, आन्ध्र का काव्यमय जीवन और कर्णाटक का भोलापन पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाय। उस में ऐसा साहित्य हो, जिस में छोटे से छोटे गांव और पल्ली का स्पन्दन हो और कलकत्ता तथा बम्बई के राजमार्गों पर दौड़ने वाली ट्रामों का कोलाहल भी हो। तेंतीस करोड़ मानवों के बुद्धिविकास के लिए उस के पास सामग्री हो और तेंतीस कोटि प्राणों को वह शुद्ध तथा पुष्ट आत्मिक भोजन दे सके। उस में इतनी सामर्थ्य हो कि वह विभिन्न महाद्वीपों के ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात कर ले और जगत् के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों में से कोई पदार्थ ऐसा न रहे जो हिन्दी के शब्दों में व्यक्त न हुआ हो।"

राष्ट्रभाषा-प्रमाणीकरण

हिन्दी-साहित्य की प्रथम आवश्यकताओं का उल्लेख करते हुए सम्मेलन-अध्यक्ष ने कहा था कि "आज आवश्यकता इस बात की है कि कोश और व्याकरण का अभाव पूरा हो।"

विधान में ही इस बात का आदेश है कि सरकार हिन्दी को प्रोत्साहित करे और उसकी उन्नति में हाथ बँटाए। इसी आदेशानुसार और हिन्दी-प्रेम से प्रेरित होकर मध्यप्रदेश के प्रधान मन्त्री माननीय श्री रविशंकर जी शुक्ल ने विगत ४ जनवरी १९५० से सभी प्रान्तों और राज्यों के प्रतिनिधियों की एक बैठक नागपुर में बुलायी थी। देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद ने इस परिषद् का उद्घाटन करते हुए कहा था कि "इस परिषद् द्वारा किया जानेवाला कार्य अपने ढंग का नया होने के कारण अत्यन्त महत्त्व रखता है। परिषद् का उद्देश्य था प्रान्त-प्रान्त में चले हुए हिन्दी-प्रमाणीकरण के प्रयत्नों को नियमित और संगठित करना। यह उद्देश्य मुख्य चार शाखाओं में विभाजित था—राष्ट्रभाषा के पारिभाषिक शब्दों, उन के उच्चारण और व्याकरण को एक अधिकृत रूप देना और नागरी लिपि में छपाई के और यांत्रिक साधनों का अधिकाधिक लाभ उठा सकने की क्षमता लाने के लिए यथोचित सुधार करना। साथ ही हिन्दी शीघ्र लिपि और टाइपराइटिंग का प्रश्न भी सामने रखा गया था। इस परिषद् की बैठक लगातार ३ दिन तक हुई और भाषा, लिपि, व्याकरण, शब्दावली, आदि के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये गये और उन प्रस्तावों को व्यावहारिक रूप देने के लिए उपसमितियाँ भी बनायी गयी हैं।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि जिन दिनों सम्मेलन हो रहा था और उस के बाद नागपुर में राष्ट्रभाषा-प्रमाणीकरण परिषद् हुई, उस समय प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक द्वारा उद्भावित और इसी के प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित "राष्ट्रभाषा का व्याकरण" एवं "हिन्दी-निरुक्त" छप रही थीं, जो अब प्रकाशित हो चुकी हैं। यदि ये पुस्तकें इस दिशा—राष्ट्रभाषा-प्रमाणीकरण—में कुछ भी सहायक हुई, तो इन के लेखक और प्रकाशक अपना परिश्रम सफल हुआ समझेंगे।

कलकत्ता,

९-४-५०